

आधुनिक साहित्य

और

कला

महेन्द्र भटनागर

एम० ए०, एल० टी०, साहित्यरत्न

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

बनारस ।

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182894

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H80-9

B57A

Accession No. P. G. H2202

Author

भटनागर, मेहेन्द्र

Title

आधुनिक साहित्य और कला . 1956.

This book should be returned on or before the date last marked below.

आधुनिक साहित्य आलोचना और कला

महेन्द्र भटनागर

एम० ए०, एल० टी०, साहित्य-रत्न,

प्राध्यापक—हिन्दी-साहित्य

आनन्द कालेज, धार (म० भा०)

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

ज्ञानवापी, बनारस ।

प्रकाशक

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, ज्ञानवापी,
बनारस ।

प्रथम संस्करण—१९५६

मूल्य : दो रुपया आठ आना



प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक साहित्य और कला विषयक मेरे बारह आलोचनात्मक लेख संग्रहीत हैं। काव्य-रचना के साथ-साथ समय-समय पर, आवश्यकता वश, मैं आलोचनात्मक लेख भी लिखता रहा हूँ। अध्यापन-कार्य में यह आवश्यकता प्रमुख रही है और निश्चय ही आगे भी रहेगी। इन आलोचनात्मक लेखों में से कुछ पत्रकारिता से सम्बन्ध रखते हैं। नई पुस्तकों पर समीक्षा आजकल के पत्रों में विशेष महत्त्व रखती है। इसके अतिरिक्त विभिन्न साहित्यिक-संस्थाओं और कला-परिषदों की महत्त्वपूर्ण बैठकों में पढ़ने के निमित्त भी कुछ लेख लिखे गये हैं। अतः सभी लेख मात्र छात्रोपयोगी दृष्टि से नहीं लिखे गए, यद्यपि छात्रों के लिए वे अनुपयोगी भी नहीं हैं।

इन सभी लेखों में मेरे अपने निजी विचार हैं; जो साहित्य में स्वस्थ प्रवृत्तियों की स्थापना के दृष्टिकोण से व्यक्त किए गए हैं; लेकिन मैंने आलोच्य के प्रति किसी प्रकार की कटुता को प्रश्रय नहीं दिया है; भले ही उपर्युक्त दृष्टिकोण के कारण कहीं-कहीं तीखापन आ गया हो।

‘आधुनिक साहित्य और कला’ नाम को देखते हुए प्रस्तुत पुस्तक अपूर्ण ही समझी जाएगी। लेकिन समग्र आधुनिक साहित्य और कला के सम्बन्ध में इसका ही स्थान पर लिखा भी

तो नहीं जा सकता । प्रस्तुत पुस्तक में जो आलोचनाएँ संग्रहीत हैं वे आधुनिक साहित्य की संज्ञा में हैं तथा कला विषयक दो लेख भी अन्त में दे दिए गए हैं । आशा है, आधुनिक साहित्य और कला पर यह सिलसिला आगे भी चलता रहेगा ।

प्रस्तुत संग्रह के सभी लेख उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं तथा 'हिन्दी के आलोचक' और 'भावना-परिमल' नामक पुस्तकों में भी दो लेख, क्रमशः पहला और ग्यारहवाँ, संग्रहीत हो चुके हैं ।

आशा है, ये लेख आलोच्य साहित्यकारों और पुस्तकों के अध्ययन में सहायक होंगे ।

आनन्द महाविद्यालय,
धार (म० भा०)

}

महेन्द्र भटनागर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली	१-१६
२—डा० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'	१७-३१
३—श्री० माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व	३३-५१
४—हिन्दी-कविता में 'निराला' का युगान्तरकारी रोल	५३-६४
५—'अज्ञेय' की कविता	६५-७८
६—कवि 'बच्चन' का नया मोड़	७९-८९
७—'अञ्जल' के काव्य में प्रगतिशील-तत्त्व	९१-१०२
८—'तितली' में जयशंकर प्रसाद	१०३-११६
९—'बीज'	११७-१२४
१०—अमृतराय की कहानियाँ	१२५-१४४
११—नृत्य, संगीत और कला में भावाभिव्यक्ति	१४५-१५३
१२—चित्रकला और जनता	१५५-१६२
१३—औपन्यासिक रचनातंत्र	१६३-१६६
१४—उपन्यासों का वर्गीकरण	१६७-२१७

आचार्य विनयमोहन शर्मा

की

आलोचना-शैली

हिन्दी-साहित्य में आलोचना का स्वरूप इधर दस-पन्द्रह वर्षों में बहुत कुछ बदल गया है। आलोचना के प्राचीन मान हटाए जा रहे हैं और उसे पहले से अधिक वैज्ञानिक, संतुलित एवं तुलनात्मक रूप दिया जा रहा है। आचार्यों द्वारा निर्मित, साहित्य के विविध प्रकारों के सम्बन्ध में निश्चित धारणाओं और नियमों को सामने रखकर अब साहित्य की छानबीन नहीं होती; वरन् साहित्य को समाज का प्राण समझकर उसके स्वस्थ और जीवनदायी तत्वों को ढूँढा जाता है। हिन्दी के आलोचक यद्यपि आलोचना के प्राचीन मानों को छोड़ नहीं सके हैं; फिर भी उनमें एक व्यापक भावना आ गई है। पाश्चात्य विचारकों ने हिन्दी के आलोचकों को निःसन्देह नई दृष्टि दी है। आजकल हिन्दी-आलोचना में यदि एक ओर प्राचीन संस्कृत-आचार्यों की साहित्यगत रूढ़िवादी मान्यताओं को स्थान दिया जाता है तो दूसरी ओर फ्रॉयड, मार्क्स, कॉडवेल आदि आधुनिक विचारकों की उपेक्षा भी नहीं की जाती।

आधुनिक साहित्य और कला

इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी-आलोचना में दो प्रकार के आलोचक दिखाई देते हैं। एक तो वे जो प्राचीन मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते और दूसरे वे जो नवीनता को ग्रहण करना नहीं चाहते; किन्तु इन दोनों प्रकारों से अलग एक इस प्रकार के भी आलोचक हैं जो इन दोनों प्रकारों का समन्वय किए हुए हैं। जिन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों को अपनाया है। किसी के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं दर्शायी है। प्राचीन मान्यताओं में जो वैज्ञानिक हैं उन्हें अपनाकर नवीन विचारकों के स्वस्थ दृष्टिकोण पर जिन आलोचकों की दृष्टि केन्द्रित है उनमें आचार्य विनयमोहन शर्मा का नाम प्रमुख है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं प्रतिष्ठित आलोचक हैं। आपकी चार आलोचनात्मक पुस्तकें—साहित्य-कला (१९३९), कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ (तृतीय-संस्करण), दृष्टिकोण और साहित्यावलोकन प्रकाशित हुई हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त आपका बहुत-सा साहित्य हिन्दी की उच्च कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होता रहा है। विनयमोहनजी के आलोचना-साहित्य को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

- (१) अनुसंधान-पूर्ण लेख
- (२) आचार्यत्व से पूर्ण समालोचनाएँ
- (३) छात्रोपयोगी आलोचनात्मक लेख
- (४) परिचयात्मक-टिप्पणियाँ (Reviews)
- (५) व्यक्तिगत संस्मरण
- (६) आधुनिक काव्य पर टीकाएँ
- (७) अन्तर-प्रांतीय साहित्य पर खोज-पूर्ण लेख

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

अनुसंधान-पूर्ण लेखों को संख्या कम है। 'साहित्यावलोकन' में 'नामदेव और उनकी हिन्दी-कविता', 'अवधी और "कृष्णायन" की भाषा' आदि लेख संग्रहीत हैं जो लेखक के अध्ययन की गहराई को प्रकट करते हैं। नामदेव की हिन्दी-कविता पर यह लेख हिन्दी-साहित्य में सम्भवतः अकेला है। यह अवश्य है कि आचार्य विनयमोहन शर्मा ने ऐसे खोजपूर्ण लेख अधिक नहीं लिखे; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनमें एक स्कॉलर की योग्यता एवं सामर्थ्य है।

उनकी दूसरी प्रकार की समालोचनाएँ ऐसी हैं जो उन्हें आचार्यत्व के पद पर पहुँचा देती हैं। आचार्यत्व से मेरा अभिप्राय उन स्वतन्त्र और निर्भीक विचारों से है जिन्हें साधारण प्रतिभा और बुद्धिवाले आलोचक लिखने में ज़रा शिश्नकते हैं अथवा उनकी दलीलें इतनी सशक्त नहीं होतीं कि जिनको पढ़ने से पाठक प्रभावित हो सकें। विनयमोहनजी के संबन्ध में ऐसी बात नहीं है। उन्होंने जहाँ भी विरोध किया है वहाँ उनकी शैली का अत्यधिक प्रभावशाली रूप दिखाई देता है। विरोध करते समय वे कभी भी न तो मानसिक संतुलन खोते हैं और न सच्चाइयों को ही तोड़ते-मरोड़ते हैं। इस प्रकार के अधिकांश निबन्ध 'दृष्टिकोण' में संकलित हैं। 'साहित्य की पृष्ठभूमि', 'छायावाद के वाद का साहित्य', 'जड़वाद या वास्तववाद', 'साहित्य में प्रगतिवाद', 'साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद' आदि आलोचनात्मक लेख मेरे उपर्युक्त मत की पुष्टि करेंगे। 'विद्यापति की पदावली' शीर्षक लेख में आलोचक विनयमोहन शर्मा की स्पष्टता का आभास मिलता है, यथा—“जयदेव का अनुकरण पूर्व में चंडोदास और विद्यापति ने किया और पश्चिम में सूर तथा नंददास ने। यद्यपि सूर को हिन्दी का प्रथम गीति-

आधुनिक साहित्य और कला

कवि कुछ लोग कहते हैं और उन्हें पद-शैली का प्रथम आचार्य भी; परन्तु यह दृष्टिकोण उस समय तक मान्य था जबतक मैथिल को हिन्दी की विभाषा नहीं माना गया था। मैथिल भाषा हिन्दी की सीमा के अन्तर्गत है। अतः हिन्दी के प्रथम गीति-कवित्व का सेहरा विद्यापति के सिर पर बाँधा जाना चाहिए और उन्हें ही कृष्ण-परम्परा का प्रथम हिन्दी-कवि उद्घोषित करना चाहिए।” (दृष्टिकोण, पृ० १३०)

मत की स्पष्टता और विचारों की निर्भीकता उन्हें निःसन्देह आचार्य बना देती है। विनयमोहनजी किसी ‘वाद’ के विरोधी या समर्थक बनकर हमारे सम्मुख नहीं आए हैं। वे तो साहित्य के एक तटस्थ जिज्ञासु की भाँति अच्छाइयों और कुत्साओं का यथार्थ चित्रण कर देते हैं। ‘साहित्यावलोकन’ के ‘दृष्टिकोण’ में जैसा वे लिखते हैं, “एक बात का मैंने यत्न अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को ‘वादग्रस्त’ होने से बचाया है। अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य को कसौटी मानकर उसका रसास्वादन मेरा ध्येय रहा है।”

वे मार्क्स में अधिक आस्था नहीं रखते। फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-शास्त्र को भी वे अपूर्ण समझते हैं। वे उपर्युक्त दोनों मनोविधियों के दर्शन में एकाङ्गीपन देखते हैं। वैसे मार्क्स और फ्रॉयड के अनेक सिद्धान्त उन्हें मान्य हैं फिर भी वे उनके सिद्धान्तों को साहित्य के मूल्यांकन के लिए पूर्ण नहीं समझते। मार्क्स आर्थिक पहलू पर और फ्रॉयड अतृप्त विकारों—इच्छाओं पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते हैं जिसके कारण साहित्य में एकाङ्गिता प्रविष्ट कर गई है। विनयमोहनजी ने इस एकाङ्गिता के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर लिखा है—

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

“फ्रॉयड की व्याख्या में हमें एकांगीपन दीखता है। प्रश्न यह है कि क्या साहित्य में अतृप्त विकारों—इच्छाओं का ही प्रतिबिम्ब होता है ? हम देखते हैं ‘तृप्त-वासनाओं’—अनुभूत विकारों का भी चित्रण साहित्य में रहता है। सच बात यह है कि तृप्त और अतृप्त दोनों प्रकार की ‘वासनाएँ’ साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि तैयार करती है।” (दृष्टिकोण, — पृ० २)

“मनोविश्लेषण की परम्परा ने हिन्दी में कुछ ऐसे उपन्यासों को जन्म दिया है, जिनमें मानव-स्वभाव की मूल और संस्कृत-प्रवृत्ति की हत्या की गई है, और विकृत मस्तिष्क के क्रीड़ा-कलाप को उभारकर प्रस्तुत किया गया है।” (दृष्टिकोण, — पृ० २५)

“माक्सवादियों को अपने ‘वाद’ के एकांगीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। उन्होंने फ्रॉयड का सहारा लिया। ओसबोर्न ने कहा भी है कि यदि ‘माक्सवाद’ की एकांगिता नष्ट करनी है, तो फ्रॉयड के मानस-तत्त्वों को अपनाना होगा। परन्तु फ्रॉयड की अनुसंधान-दिशा भी अमपूर्ण है; उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमें भी एकांगीपन का दोष आ गया है।” (कवि प्रसाद—पृ० २८)

“माक्सवादी आलोचनाओं में परीक्षण की एकांगिता चिंतनीय है।” (दृष्टिकोण—पृ० १९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचक विनयमोहन शर्मा साहित्य की केवल एक-पक्षीय कल्पना कर ही नहीं सकते। फ्रॉयड और माक्स के सिद्धांतों की एकांगिता और अपूर्णता पर उन्होंने लिखा है, पर यहाँ यह समझना भूल होगी कि विनयमोहन माक्स-विरोधी हैं।

आधुनिक साहित्य और कला

प्रगतिशील साहित्य जो मार्क्स की धारणाओं से प्रभावित है उसके भी वे विरोधी नहीं हैं। हाँ, फ्रॉयडवाद को वे अवश्य समाज के लिए घातक समझते हैं। आज के मार्क्सवादी लेखक भी फ्रॉयड के विरोधी हैं। अतृप्त वासनाओं को साहित्य में उभार कर रखने का बड़ा सख्त विरोध आज के प्रगतिशील आलोचक अनेक बार कर चुके हैं। साहित्य की उक्त अस्वस्थ मनोवृत्तियों को नष्ट करने का पहला कर्तव्य आज का प्रगतिशील साहित्यकार समझता है। यह बात दूसरी है कि एक समय हिन्दी के कुछ तथाकथित प्रगतिशील आलोचकों ने फ्रॉयड और मार्क्स के समन्वय की बात चलाई थी। रोबर्ट ओसबर्न ने अपनी 'फ्रॉयड एण्ड मार्क्स' पुस्तक में यही बात प्रमाणित की है कि ये दोनों विचारक एक दूसरे के पूरक हैं। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अध्ययन तो अवश्य लेखक को सहायक सिद्ध होगा; किंतु विरोध फ्रॉयड के उन विचारों से है जहाँ वे मानव-मन की कुत्साओं को, नैतिक परदे को फाड़ कर, रख देने की बात करते हैं। इसी कारण प्रगतिवादी फ्रॉयड-विरोधी हैं; क्योंकि वे कोई भी ऐसी चीज़ बरदाश्त नहीं कर सकते जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो। कॉडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर' में फ्रॉयड को 'रुग्ण और हासोन्मुख उच्च वर्ग का चारण' कहा है। डा० रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य में प्रगति-विरोधी धाराएँ' शीर्षक लेख में फ्रॉयडवादियों को प्रगतिवाद का विरोधी बताया है—“प्रगतिशील साहित्य के विरोधियों में अन्तर्चेतनावादी लोग हैं जो फ्रॉयड के मनोविज्ञान को सच्चा प्रगतिवाद मानते हैं। फ्रॉयड का कसूर यह था कि वह इस एक-माता-व्रत को अस्वास्थ्यकर मानता था। इलाचन्द्र जोशी के अनुसार उसे अस्वस्थ मानना मूलतः एक भ्रान्त धारणा है। इसीलिए वह फ्रॉयड के मनोविज्ञान को स्वस्थ करके

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

मनुष्य की तमाम वासना-सम्बन्धी विकृतियों को अपने उपन्यासों का आधार बनाते हैं। अश्लीलता के खिलाफ़ जिहाद बोलने वाले सज्जन फ़ॉयड के इस भारतीयकरण से सन्तुष्ट हो जाते हैं आदि।” (‘संध्या’ मासिक, अङ्क दूसरा) ऐसी स्थिति में आचार्य विनयमोहन शर्मा और प्रगतिवादी-मार्क्सवादी आलोचकों में कहीं भी मतभेद को स्थान नहीं रह जाता। विनयमोहनजी ने कहीं भी साहित्य की प्रगतिवादी धारा को बुरा नहीं बताया है; जो कुछ आक्षेप किए भी हैं वे या तो आज के प्रगतिवादियों ने मान लिए हैं या वे विचारणीय हैं। प्रगतिशील साहित्य की दुर्बलताओं को जबतक बताया नहीं जाता तबतक प्रगतिशील साहित्य उन्नति नहीं कर सकता। वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। यदि कोई प्रगतिवादी आलोचक किसी पुस्तक को प्रशंसा करता है और उसके अभावों को जानबूझ कर छोड़ जाता है; क्योंकि वह पुस्तक प्रगतिशील लेखक की है या प्रगतिशील तत्त्वों से युक्त है तो वह अपना कर्तव्य पूरा नहीं करता। उसकी आलोचना मात्र प्रशंसा बनकर रह जाएगी। विनयमोहन शर्मा ने प्रगतिवादी-साहित्य के सम्बन्ध में जो आक्षेप किए हैं वे निःसंदेह विचारणीय हैं। यदि हम प्रगतिवादी-साहित्य को स्वस्थ और पनपता हुआ देखना चाहते हैं तो आलोचक को निष्पक्ष होना चाहिए। उसे साहित्य की किसी विशेष धारा का समर्थक या विरोधी बनकर नहीं रहना होता है वरन् सहानुभूति के साथ कमजोरियों और सशक्तताओं को सामने रखना होता है। यह बात हमें विनयमोहनजी में मिलती है। अधोलिखित पंक्तियाँ जो कि उन्होंने अपने कुछ लेखों में दी हैं, उक्त बात की पुष्टि में उद्धृत की जाती हैं —

“आज अनेक नवयुवक अपनी रचनाओं में मज़दूर, किसान,

आधुनिक साहित्य और कला

इन्कलाब आदि के नारे लगाकर अपने को प्रगतिशील कहलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। देश के कृषक-मजदूरों का जागरण किसे नहीं सुहाता ? पर, प्रश्न यह है कि जिन कृषक और मजदूरों के लिए गीत लिखे जाते हैं वे उन्हें समझ भी सकते हैं। इन रचनाओं में अनुभूति की गहराई का तो प्रायः अभाव हो रहता है। ऐसे कितने प्रगतिशील कवि हैं जिन्होंने कृषक और मजदूरों-सा जीवन व्यतीत किया है या उनके साथ एक होकर सुख-दुःख को अपने हृदय में उतारा है ? इसी से अधिकांश प्रगतिशील कहलाने वाला कविताएँ शुष्क, निष्प्राण और सिद्धान्त-प्रचारक-सी लगती हैं।” (दृष्टिकोण,—पृ० २४)

“प्रगतिवादी कविताओं में प्रेरणा नहीं, प्रयास होता है। आत्मानुभूति नहीं, ज्ञानसंचय होता है। इसीसे उनके स्थायित्व में संदेह है।” (दृष्टिकोण,—पृ० २४)

“अधिकांश प्रगतिवादी कथा-साहित्य विवस्त्र होकर निराश्रित शरणार्थी-सा बन गया है जिसे देखकर दया होती है, क्षोभ पैदा होता है।” (दृष्टिकोण, पृ० २०)

“प्रगतिवादो साहित्य का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह जिस वर्ग के लिए लिखा जाता है, उसका उस वर्ग की भाषा तक से कोई संबंध नहीं। यहीं तक नहीं, उस वर्ग के साथ एक-रस होकर हमारे प्रगतिवादियों ने बहुत कम अभिव्यक्त किया है। उसे अपनी आँखों से देखने की उन्हें चिंता नहीं है तब मनों और टनों कागजों में लिखा गया प्रगतिशील साहित्य किसकी बौद्धिक प्यास बुझाने के लिए है ? मुझे इसलिए प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य अंधकारमय दीख पड़ता है।” (दृष्टिकोण,—पृ० ४८)

“कल कवि अभिजात-वर्गीय तरुणियों के रूप पर मुग्ध हो उन्मत्त

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

गीत गाया करता था; आज कृपक-किशोरी को अधनंगी देखकर वह सिहर उठता है ।” (दृष्टिकोण; - पृ० ४७)

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट है कि विनयमोहनजी ने प्रगतिवादी साहित्य पर स्पष्ट और सीधा प्रहार किया है । इन उद्धरणों से दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है कि आलोचक प्रगतिशील धारा का विरोधी है; किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनके आक्षेप सत्य हैं जिनको बड़े-से-बड़ा प्रगतिवादी स्वीकार करने में संकोच नहीं करेगा । प्रश्न केवल यह है कि क्या प्रगतिशील साहित्य में विकास नहीं हो रहा ? यदि हाँ, तो आलोचक को नई-नई प्रवृत्तियों से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिए और उसकी विशेषताओं को भी लिखकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए । ‘प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य अंधकारमय है ।’— विनयमोहनजी का यह वाक्य काफ़ी निराशाजनक है । अब तो हम देखते हैं कि उसकी स्थिति दिन-पर-दिन अधिक सबल होती जा रही है । इसका कारण यही है कि वह अपने कमज़ोरियों से भिन्न है और उनको दूर करने का प्रयत्न कर रहा है । उसकी अनुभूति अब पहले की तुलना में अधिक वास्तवमय, अधिक जीवनमय व अधिक अनुभवमय होती जा रही है । प्रगतिवादी लेखक जन-भाषा के सबसे बड़े समर्थक हैं । सरल भाषा में जन-जन के विचारों को अभिव्यक्त करना उनका धर्म है ।

मेरा ऐसा विश्वास है कि आलोचक विनयमोहन शर्मा प्रगतिशील-साहित्य की गतिविधि से परिचित ही नहीं, विशेष रूप से जागरूक हैं और अपनी नई पुस्तक में वे प्रगतिवादी साहित्य पर हमें अपने नए विचारों से अवश्य अवगत कराएंगे । प्रगतिशील लेखकों में हमें कुंठावादी, अन्तर्चेतनावादी, नारावादी लेखकों को शुमार नहीं करना

आधुनिक साहित्य और कला

चाहिए । प्रगतिवादी साहित्य के स्वस्थ पक्ष को देखना ज़रूरी है, अन्यथा उसकी व्याख्या में भी एकांगिता का दोष आ जाएगा ।

समय के साथ-साथ विचारों में परिवर्तन होते रहते हैं । प्राचीन मान्यताएँ युग की परिस्थितियों के बदल जाने के कारण समाज से उठ जाती हैं । कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है । प्रगतिशील व्यक्ति को परिवर्तित परिस्थितियों से परिचित होना ज़रूरी है । हिन्दी के आलोचक, जो प्राचीन धारणाओं को ही अन्तिम समझते हैं, आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते । विनयमोहन शर्मा नैतिक सिद्धान्तों तक को सनातन नहीं मानते—“यह सत्य है कि नैतिक सिद्धान्त शाश्वत नहीं होते । ये युग-धर्म के अनुरूप परिवर्तित होते हैं ।” (दृष्टिकोण,— पृ० ५१)

प्रगतिशील तत्वों की प्रतिष्ठा विनयमोहनजी ने निर्भीक होकर की है; किन्तु वे साहित्य में उच्छृङ्खलता को सहन नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी समालोचना का मूलाधार सामाजिक-स्वास्थ्य है । नैतिक-सिद्धान्तों को रुढ़ि न मानना तो ठीक है; किन्तु समाज से उनका लोप कर देना मनुष्यता के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता—“हम पाप पुण्य की परिभाषा को सनातन मानने वालों में से नहीं हैं; परन्तु हम नैतिक आचार को समाज-स्वास्थ्य के लिए आवश्यक अवश्य समझते हैं ।” (दृष्टिकोण,—पृ० २७) इस प्रकार यथार्थवाद के नाम पर जो नैतिक आचारों की हत्या की जाती है वह कभी भी युग को जीवन दान नहीं दे सकती—“यथार्थवाद के नाम पर नारी के जम्पर और साड़ी उतरवाना उसके गुप्ताङ्गों को देखना जैसे—श्री० जैनेन्द्र ने ‘सुनीता’ में और श्री यशपाल ने ‘दादा कॉमरेड’ में किया है—नारी-

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

जाति को अपमानित करना है। यह उसका उद्धार नहीं है; विकृत मन का वाणी-विलास है।” (दृष्टिकोण,—पृ० ४५)

आगे चलकर आलोचक ने रूसी साहित्य से प्रेरणा और प्रकाश लेने पर बल दिया है - “आज रूस में रूसी संस्कृति और रूसी जीवन को उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत करने के लिए कलाकारों को प्रेरित किया जा रहा है। समाज की गंदगी को साहित्य में उतारने की प्रवृत्ति वहाँ निन्दनीय समझी जाती है। वहाँ के परिष्कृत बुद्धि-कलाकार जीवन की महत्ता और उच्चता तथा उसकी सद्वृत्तियों को साहित्य के उपकरण बनाने में व्यग्र हो रहे हैं।” (दृष्टिकोण—पृ० ५२)

आदर्श और यथार्थ का सतुलन होना चाहिए। प्रेमचंद का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद निश्चय ही युग को जीवन दे सकता है। यथार्थवाद यदि नग्न रूप में हमारे सामने रखा जाएगा तो उससे हित-साधन के स्थान पर अहित की ही सम्भावना अधिक होगी। विनयमोहन आदर्श और यथार्थ दोनों को आवश्यक समझते हैं; और यह ज़रूरी भी है—“मनुष्य जो कुछ वह है उसे तो जानता ही है। उसे ‘क्या होना चाहिए?’ इसे जानने की भी उसमें एक प्रवृत्ति होती है; जिसकी तृप्ति यथार्थवादी साहित्य से नहीं होती।” (दृष्टिकोण—पृ० ५१)

ठीक इसी प्रकार कोरे आदर्शवाद से मनुष्य को ‘क्या होना चाहिए?’ प्राप्त करना संभव नहीं। आदर्श को बिना वास्तव पर निर्मित किए उसकी व्याख्या केवल काल्पनिक और रहस्य बनकर रह जाएगी जो समाज को निष्क्रिय, आलसी और निकम्मा बना देगी। विनयमोहन शर्मा के ‘साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद’ शीर्षक लेख के ये शब्द कितने महत्व के हैं—“आज का युग जीवन माँगता है। क्या

आधुनिक साहित्य और कला

यथार्थवादी साहित्य उसे यह दे सकता है? क्या आदर्शवादी साहित्य उसे यह दे सकता है?" (दृष्टिकोण, - पृ० ५३)

निश्चय ही यथार्थ और आदर्श मिलकर ही समाज को स्वस्थ बना सकेंगे। विनयमोहन शर्मा ने इस प्रकार यथार्थवाद, सनातन-सत्त्वों, प्रगतिवाद आदि पर स्वतंत्र विचारों का प्रतिपादन इनने तर्क-संगत ढंग से किया है कि साहित्य के मर्मज्ञ को सोचने के लिए विवश कर देता है। इन्हीं विषयों पर उनकी लेखनी सशक्त हो उठी है। आलोचक का स्वतंत्र अस्तित्व उपर्युक्त लेखों को पढ़ने से ज्ञात हो सकता है। आचार्यरव से पूर्ण ये लेख भारत के आलोचनात्मक-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखेंगे, इसमें संदेह नहीं। यह सब होते हुए भी मुझे एक कमी दिखाई दी। वह यह कि विनयमोहनजी ने अपने पूर्व के आलोचकों, विशेष कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल की धारणाओं की पुष्टि बहुत की है। सच बात की पुष्टि करना बुरा नहीं है; किंतु उसकी अधिकता से लेखक की मौलिकता, उसके स्वतंत्रचिंतन और विचारों पर जंग-सा लग जाता है जो अवांछनीय है।

विनयमोहनजी की तीसरे प्रकार की रचनाएँ छात्रोपयोगी आलोचनात्मक लेख हैं। आलोचक स्वयं विश्वविद्यालय में आचार्य हैं अतः यह स्वाभाविक है कि उनके द्वारा छात्रोपयोगी लेख अधिक लिखे गए। 'कवि प्रसाद' पुस्तक के अतिरिक्त 'दृष्टिकोण' में अनेक लेख उक्त प्रकार के हैं। 'कवि प्रसाद' आधुनिक कविता की पृष्ठ-भूमि पर 'प्रसाद' के कवि का निरीक्षण है। इस प्रकार की आलोचना में रस-निष्पत्ति एवं काव्य-चित्रों की विशेष खोजबीन की गई है। ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार-योजना, भाषा आदि के आधार पर शास्त्रीय रीति से ये लेख लिखे गए हैं। इन्हीं के साथ-साथ पर्याप्त

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचना-शैली

संख्या में परिचयात्मक-टिप्पणियाँ (Reviews) भी आचार्य विनयमोहनजी ने लिखी हैं। ये टिप्पणियाँ कोई कम महत्व की नहीं हैं; क्योंकि उन्होंने थोड़े में ही बड़ी बारीकियों का निर्देश किया है। ये परिचयात्मक टिप्पणियाँ पर्याप्त सहानुभूति से लिखी गई हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समालोचना में विश्लेषण का अभाव है। व्यक्तिगत संस्मरण और आधुनिक काव्य पर टीकाएँ अधिक नहीं हैं। कवि 'प्रसाद' की श्रेष्ठ और लोकप्रिय पुस्तक 'आँसू' के कठिन स्थलों के अर्थ लिखकर लेखक ने छायावादी रहस्यवादी साहित्य की दुरूहता कम करने की ओर कदम उठाया है। 'प्रसाद' के संबंध में अपने व्यक्तिगत संस्मरणों को भी उक्त पुस्तक में संकलित कर दिया गया है।

अन्तर-प्रांतीय साहित्य में मराठी-साहित्य का परिचय हिन्दी भाषा-भाषियों को विनयमोहनजी ने दिया है। 'साहित्यावलोकन' का तृतीय-खंड मराठी-साहित्य पर ही लिखा गया है। हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने के कारण उसमें इस प्रकार के लेखों का विशेष महत्व है; क्योंकि समूचे देश की विभिन्न भाषाओं का साहित्य भारत का साहित्य है और उसे विभिन्न भाषा-भाषियों तक अवश्य पहुँचाना चाहिए। विनयमोहनजी का यह प्रयास समयानुकूल एवं स्तुत्य है।

आचार्य विनयमोहन शर्मा की आलोचनाएँ शुष्क नहीं होतीं; उनमें Wit है; बात कहने का अपना आकर्षक ढंग है; जैसे—“सुभद्राकुमारो घुमा-फिरा कर कहना नहीं जानतीं। आनंदवर्धन भले ही उस कथन को मध्यम-कोटि का काव्य कहे, पर भारत की साधारण हिन्दी-जनता के मन में उनके द्वारा आनन्द-वर्द्धन अवश्य हुआ है।” (दृष्टिकोण, -पृ० १३७)

“कवि श्रेणी-वर्ग की भित्तियाँ मार्क्सवादी बाह्य संघर्ष से तोड़ना नहीं चाहता; प्रत्युत उन्हें समाज में मानवता के विकास-मार्ग से क्रमशः

आधुनिक साहित्य और कला

उसी तरह विलीन करना चाहता है, जिस तरह रक्तहीन क्रांति के द्वारा आज भारतीय सामंतशाही रियासतों का भारतीय शासन में विलीनीकरण हो गया है ।” (दृष्टिकोण,— पृ० १९४)

इस प्रकार नए रूपों, नई उपमाओं एवं नई शैली में आलोचक ने साहित्य की व्याख्या की है । विनयमोहनजी का दृष्टिकोण पाश्चात्य कला-प्रयोगों और प्राचीन भारतीय आदर्शों के स्वस्थ समन्वय का है । निःसंदेह आज के युग में ऐसे दृष्टिकोण से साहित्य की धारा को बड़ा बल मिलेगा । आचार्य विनयमोहन शर्मा अपनी वैज्ञानिक शैली के आधार पर साहित्य का निष्पक्ष, तुलनात्मक एवं सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से जो अध्ययन कर रहे हैं वह हिन्दी-साहित्य में एक प्राणवान और मान्य चीज़ को जन्म देगा ।

डॉ० रामकुमार वर्मा

कृत

कौमुदी-महोत्सव

‘कौमुदी-महोत्सव’ सुप्रसिद्ध एकांकी-नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा कृत ऐतिहासिक एकांकी-नाटक की पुस्तक है। यह एकांकी-नाटक ऑर्ज़ इंडिया रेडियो के लिए लिखा गया था।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु भारतीय इतिहास के शक्तिशाली सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य से संबंधित है। जैसे एकांकी-नाटकों में जीवन की एक झलक ही द्रष्टे को मिलती है वैसे ही ‘कौमुदी-महोत्सव’ में भी चंद्रगुप्त मौर्य के युद्ध-रत जीवन की एक झलक, विशिष्ट उद्देश्य के निमित्त, प्रस्तुत की गयी है। यह झलक चंद्रगुप्त की कुसुमपुर की विजय के उपरान्त की है। कुसुमपुर पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् शरदकाल की पूर्णिमा के अवसर पर कुसुमपुर की युद्ध, रक्त और पराजय से भयभीत एवं संतप्त जनता के हृदय में शांति, कल्याण और आनन्द की भावनाओं के प्रसार के निमित्त कौमुदी-महोत्सव का आयोजन चंद्रगुप्त ने किया था। इस उत्सव के मनाने में चंद्रगुप्त का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था और उसने पहली बार बिना चाणक्य से पूछे उक्त महोत्सव की घोषणा

आधुनिक साहित्य और कला

की थी। 'कौमुदी महोत्सव' की घोषणा कुसुमपुर में चंद्रगुप्त की प्रथम राजघोषणा थी। किन्तु अंत में चाणक्य अपनी दूरदर्शिता के कारण 'कौमुदी-महोत्सव' को समयोचित नहीं समझता और इस आयोजन को बंद करवा देता है। सम्राट् की आज्ञा और महामंत्री द्वारा उसका बिना सम्राट से विचार-विनिमय किये निषेध स्वयं एक आकर्षक एवं कौतूहल-पूर्ण प्रसंग है। निःसंदेह यह घटना चंद्रगुप्त के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। एकांकीकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस घटना को अपनी रचना का विषय बनाया है जो एकांकी नाटक के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

चंद्रगुप्त मौर्य पर भारतीय भाषाओं में अभी तक केवल तीन नाटक लिखे गये हैं। पहला श्री. विशाखदत्त का संस्कृत में लिखा 'मुद्राराक्षस' (पौँचवीं शताब्दी के आसपास), दूसरा श्री द्विजेन्द्रलाल रॉय का बंगला में लिखा 'चंद्रगुप्त' (सन् १९०९), और तीसरा श्री जयशंकर प्रसाद का हिन्दी में लिखा 'चंद्रगुप्त' (सन् १९३१)। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उपर्युक्त तीनों नाटकों में चंद्रगुप्त का जो अत्यधिक दबा हुआ ब्यक्तित्व देखा है उसी के परिमार्जन स्वरूप तथा इतिहास सम्मत चंद्रगुप्त के शौर्य एवं शक्ति के अनुरूप चित्रण के हेतु अपने नवीन नाटक 'कौमुदी-महोत्सव' की रचना की है। नाटक की भूमिका में लेखक अपना उद्देश्य व्यक्त करता हुआ लिखता है—

“हमारे भारतीय साहित्य में चाणक्य और चंद्रगुप्त के इतिहास के इतिवृत्त पर कुछ नाटक लिखे गये हैं। इन सभी नाटकों में मैंने यह अनुभव किया है कि चंद्रगुप्त के ब्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं किया गया। यद्यपि ये नाटक विविध दृष्टिकोणों से लिखे गये हैं तथापि किसी दृष्टिकोण में भी चंद्रगुप्त, जो अत्यंत पराक्रमी, वीर और शक्ति में अप्रतिम था,

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

अपने व्यक्तित्व में उभर नहीं सका। पहिले तो उसे क्षुद्र मानकर हमारी दृष्टि में उसे राजोचित मर्यादा से विरुद्ध चित्रित किया, फिर आचार्य चाणक्य के व्यक्तित्व का बोझ उसपर सभी कालों में जिरह-बख्तर की भांति लदा रहा। जिरह-बख्तर से उसकी रक्षा अवश्य हुई किन्तु उसपर इतना बोझ पड़ा रहा कि स्वाभाविकता के साथ वह अंग संचालन भी नहीं कर सका। चंद्रगुप्त ने अपने आचार्य की नीति से सदैव ही विजय प्राप्त की। चंद्रगुप्त ने सदैव आचार्य के आगे मस्तक झुकाया; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि चंद्रगुप्त इतना गया—बीता नरेश था कि उसे अपनी राजोचित मर्यादा और आत्म सम्मान का भी ज्ञान नहीं था। जिसने सिक्ंदर के सम्पर्क में आकर शासक और विजेता के आदर्शों को समझा और असम्य पार्वतीय सेनाओं का संगठन किया, भयानक रणों में सम्मुख रहकर असीम साहस और धैर्य से उनका नेतृत्व किया; जीवन और मृत्यु की विभाजक सूक्ष्म रेखाओं पर विद्युत-गति से चला और तलवार की धार जो जीवन—सूत्र के टुकड़े करने के लिए सदैव भूलती रही, उसे सदैव चुनौती देता रहा, वह चंद्रगुप्त चाणक्य के सामने इतना दबू और आतंकित बना रहा कि अपनी राजनीतिक और सामाजिक मर्यादा की हानि देखकर वह उसका प्रतिकार भी नहीं कर सका और अपने आत्म—सम्मान के संबंध में अपने अखंड वीरत्व की एक चिनगारी भी प्रकट नहीं कर सका? निस्संदेह यह चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रति भारी अन्याय हुआ है।” (पृष्ठ ८, ९)

‘मुद्राराक्षस’ में धीरोदात्त चंद्रगुप्त नायक की स्थिति बड़ी दयनीय बतायी गयी है। उसमें चाणक्य की नीति ही प्रधान है। ‘कौमुदी-महोत्सव’ का प्रसंग उसमें ‘छल-कलह’ का अभिनय मात्र हो है। द्विजेन्द्रलाल राय के ‘चंद्रगुप्त’ नाटक में भी चंद्रगुप्त हास्यास्पद दशा को पहुँच जाता है।

आधुनिक साहित्य और कला

इसी प्रकार प्रसाद भी चंद्रगुप्त को प्रणय के चक्रव्यूह में डालकर मार्ग भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसी दशा में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त नाटकों में वास्तव में नायक कौन है, चंद्रगुप्त कि चाणक्य? चंद्रगुप्त का चित्रण सचमुच उसके सम्राटत्व एवं वीरत्व का परिचायक नहीं है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, मेगस्थनीज तथा चंद्रगुप्त के इतिहास से संबंध रखने वाले ग्रन्थों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि का सम्यक् अध्ययन करके “कौमुदी महोत्सव” की रचना की है जिसका कथानक विशाखदत्त के ‘मुद्राराक्षस’ की कथावस्तु के अनुसार है।

नाटक का प्रारम्भ कुसुमपुर के समाहर्ता वसुगुप्त और कुसुमपुर के अंतःपाल यशोवर्मन के संवादों से होता है। प्रारंभ से ही उपर्युक्त संवाद भावी षड्यंत्र की सूचना दे देता है जब यशोवर्मन वसुगुप्त से कहता है—

“नद के प्रति राजभक्ति अभी निष्प्राण नहीं हुई है। हरी घास में कुश और कंटक भी होंगे।” (पृ. ४) और एक संदेह का वातावरण फैल जाता है। ‘कौमुदी महोत्सव’ के आवरण में महाराज नद के मंत्री राक्षस की नीति छद्म वेश में छिपी हुई है। इस बात से यद्यपि चंद्रगुप्त अनभिज्ञ है तथापि वह इतनी गुप्त नहीं है। अंतःपाल यशोवर्मन का भावी आशंका के प्रति सचेत भाव चाणक्य के महत्व को कुछ कम कर देता है। यशोवर्मन सम्राट् से अपनी आशंका कुछ तो संकोच वश और कुछ अपने पद - वश व्यक्त नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में भी यशोवर्मन की दूरदर्शिता चाणक्य की नीति की प्रखरता को ढँक लेती है। डॉ० वर्मा चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व के प्रकाशन में तो सजग हैं किन्तु चाणक्य के मस्तिष्क की नवीन सूक्ष्म व उसकी अद्भुत दूरदर्शिता पर हलका परदा — सा डाल देते हैं। वार्तालाप के मध्य यशोवर्मन और वसुगुप्त की

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

जय-जयकार के उद्घोष के साथ सम्राट् चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। चंद्रगुप्त 'कौमुदी-महोत्सव' को महान् राजनीतिक-पर्व को संज्ञा देता है। कार्यान्तिक पुष्पदंत नगरी की सजावट का विस्तृत वर्णन करता है। तत्पश्चात् वसुगुप्त राजनर्तको अलका के नृत्य के आयोजन की बात करता है। चंद्रगुप्त अलका को अपने सम्मुख बुलवाते हैं। इस अवसर पर यशोवर्मन फिर चंद्रगुप्त को एक प्रकार से सचेत करता है—

“विलासो नन्दवंश की राजनीति में यह राजनर्तकी अलका है।” (पृष्ठ १९)

पर चंद्रगुप्त का उत्तर यशोवर्मन को संतोष प्रदान करता है—

“केवल 'कौमुदी-महोत्सव' को शोभा-सम्पन्न करने के लिए और कुसुमपुर की जनता के मन में यह संतोष उत्पन्न करने के लिए कि सम्राट् चंद्रगुप्त ने महाराज नन्द के आश्रितों के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया। (पृ० २०)

अलका और चंद्रगुप्त का पारस्परिक वार्तालाप होता है। अलका चंद्रगुप्त के आदेश पर नृत्य करती और मधुर कंठ से गीत गाती है। सम्राट् चंद्रगुप्त नृत्य और गीत की प्रशंसा करते हुए पुरस्कार स्वरूप मोतियों की माला उतारकर देना चाहते ही हैं कि यकायक चाणक्य अपने सम्पूर्ण तेज के साथ मंच पर प्रकट होते हैं। उनका पहला वाक्य, “पुरस्कार नहीं दिया जायेगा सम्राट् !” उनके उभरे हुए व्यक्तित्व का द्योतक है। चाणक्य का यह एक वाक्य नाटक की कथावस्तु को चरमोत्कर्ष पर ले जाता है। घटना की धारा बदल जाती है। यह प्रथम और अंतिम कुतूहल बड़े ही उपयुक्त स्थल पर आया है। चाणक्य का उपर्युक्त वाक्य सुनकर चंद्रगुप्त आश्चर्यचकित हो उठते हैं। तदुपरान्त सम्राट् चंद्रगुप्त और महामंत्री चाणक्य में 'कौमुदी-महोत्सव' को लेकर

आधुनिक साहित्य और कला

कड़ा विरोध एवं वाद-विवाद होता है। चाणक्य और चंद्रगुप्त दोनों अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए गरजते हैं और अपने महत्व और योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। वाद-विवाद यहाँ तक बढ़ता है कि चंद्रगुप्त चाणक्य को महामंत्री के पद से च्युत कर देता है और अलका और वसुगुप्त के ऊपर लगाये गये आरोपों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उसे बाध्य करता है। चाणक्य चंद्रगुप्त की आज्ञानुसार तो नहीं, किन्तु अपनी इच्छानुसार अलका के विषकन्या और वसुगुप्त के गुप्तचर होने का भेद खोलता है। इस रहस्योद्घाटन से चंद्रगुप्त की आँखें खुल जाती हैं। वे कौमुदी-महोत्सव की घोषणा की गलती को समझ जाते हैं और जैसा कि ऐतिहासिक सत्य है कौमुदी-महोत्सव के न होने की घोषणा करते हैं, पर, चाणक्य चंद्रगुप्त से, 'अपना राज्य सँभालो' कहकर चला जाता है। चंद्रगुप्त के निम्न विह्वल स्वर नाटक के अन्त में गूँज जाते हैं।

“आर्य चाणक्य ! महामंत्री चाणक्य ! चंद्रगुप्त को तुम्हारी आवश्यकता है ! महामंत्री चाणक्य के बिना यह राज्य नष्ट हो जायेगा, चन्द्रगुप्त नष्ट हो जायेगा। महामंत्री चाणक्य ! कौमुदी-महोत्सव नहीं होगा ! (चाणक्य के पीछे शीघ्रता से जाते हैं। उनकी ध्वनि क्रमशः क्षीण होती सुनायी पड़ती है।) कौमुदी-महोत्सव नहीं होगा ! कौमुदी-महोत्सव नहीं होगा !.....कौमुदी महोत्सव नहीं होगा ! ! !”
(पृष्ठ ४५)

इस प्रकार एक छोटे-से किन्तु महत्वपूर्ण प्रसंग को लेकर कथानक का गढ़न व्यवस्थित ढंग से किया गया है। कथा का निर्वाह रोचक है। बीच-बीच में पात्रों के मुख से बड़े आकर्षक संवाद कराये गये हैं यथा—

यशोधर्मन—“संदेह पानी का बुलबुला नहीं है जो एक क्षण में

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

भंग हो जाता है। संदेह तो धूमकेतु की रेखा है जो आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक फैली रहती है।" (पृष्ठ ३)

अलका—“सच्ची नारी मोहित नहीं होना चाहती, वह आत्म-समर्पण करना चाहती है। जो नारी मोहित होती है, वह अपने रूप का व्यापार करती है, हृदय का समर्पण नहीं।” (पृष्ठ २२, २३)

अलका—“ऐसे फूलों का क्या सौन्दर्य जो किसी शव पर बिखेर दिये जाते हैं।” (पृष्ठ २७) आदि।

कथोपकथन सरल और छोटे हैं जिनके कारण नाटकीय-चमत्कार आ गया है। भाषा में प्रवाह है।

सम्पूर्ण एकांकी में छः पात्रों का समावेश है। वसुगुप्त नंद साम्राज्य का एक गुप्तचर है जो चन्द्रगुप्त का विश्वास प्राप्त करके समाहर्ता-पद को पहुँच गया है। वह एक षड्यंत्रकारी है। सम्राट चंद्रगुप्त को चापलूसी करता है और राजनर्तकी अलका द्वारा, जो एक विष-कन्या है, चंद्रगुप्त के जीवन का अंत करवाना चाहता है। अपने प्रयत्न में शायद वह सफल भी हो जाता यदि चाणक्य उसके गुप्तचर और अलका के विष-कन्या होने का रहस्योद्घाटन न करता। वसुगुप्त नाटक का छल-पात्र है।

वसुगुप्त के साथ ही अलका भी चन्द्रगुप्त के विनाश में सहायक होती है, लेकिन नाटककार ने कहीं भी अलका का विश्वादाती एवं षड्यंत्रकारी रूप नहीं बताया; प्रत्युत उसको बड़ी ही सुकुमार व मधुर भाषी नारी के रूप में चित्रित किया है। चन्द्रगुप्त के प्रति वह आकर्षित दिखायी देती है और संभवतः उसके तेजस्वी स्वरूप को देखकर उसके हृदय में यदि कोई बुरा इरादा रहा भी होगा तो वह लुप्त-सा दिखायी देता है। चाणक्य के उसके विष-कन्या का रहस्य खोल देने पर भी

आधुनिक साहित्य और कला

हमारी सहानुभूति उसकी ओर रहती है। हमें वह कोई भयंकर पिशाचिनी प्रतीत नहीं होती। वह एक दुर्बल नारी है जो वसुगुप्त के जाल में फँसी है। अलका के हृदय के उद्गार क्या किसी दुष्टा विषकन्या के मुख से शोभा दे सकते हैं ?—

“अलका—सम्राट ! अभी तक तो राजनीति ही मेरे नृत्य की ताल थी। किन्तु मैंने इसको ओर कभी ध्यान दिया ही नहीं। राजनर्त्तकी का राजनीति से क्या संबंध सम्राट ? वह तो राज्य की अनुचरी मात्र है।

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) इन्हीं छद्मवेशी शब्दों में अनुचरी स्वामिनी बन जाती है, राजनर्त्तकी ! महाराज नंद तुम पर मोहित थे या तुम महाराज नंद पर मोहित थीं ?

अलका—सम्राट, मुझे क्षमा करें। सच्ची नारी मोहित होना नहीं चाहता। वह आत्म-समर्पण करना चाहती है। जो नारी मोहित होती है, वह अपने रूप का व्यापार करती है, हृदय का समर्पण नहीं।

चन्द्रगुप्त—तुम किस व्यापार में विश्वास करती हो ! रूप के व्यापार में या हृदय के व्यापार में ?

अलका—हृदय का व्यापार नहीं होता सम्राट !” (पृ २२, २३)

अथवा

“अलका—तब तो मुझे विद्युत की भाँति ही पृथ्वी में विलीन हो जाना चाहिये, सम्राट् !

चन्द्रगुप्त—किन्तु राजनर्त्तकी महासीता नहीं बन सकती जो पृथ्वी में विलीन हो जाये। राजनर्त्तकी को राज्य का शृङ्गार करना पड़ता है।

अलका—यह मेरे जीवन का अभिशाप है, सम्राट ! ऐसे फूलों का क्या सौन्दर्य जो किसी शव पर बिखेर दिये जाते हैं। आज आपके चरणों पर गिरकर मैं अपने जीवन से मुक्त हो जाऊँगी।

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

चंद्रगुप्त—निराशा की बातें मत करो, राजनर्तकी ! तुम जानती हो, आज कौमुदी-महोत्सव है । कुसुमपुर की जनता मेरे साथ आनंद-विभोर हो जाना चाहती है । तुम्हें मधुर गायन से वातावरण को गुंजारित करना है ।

अलका - सम्राट् की जो आज्ञा, किन्तु आज से मैं राजनर्तकी का पद त्याग दूंगी और आपके चरणों की धूल में शयन कर अमर हो जाऊँगी । (पृ० २४, २५)

माना कि अलका विष-कन्या ही है और चंद्रगुप्त को धोखा देने के लिए ही यह सब अभिनय कर रही है तो भी वह एक ऐसा फूल है जिसकी सुगंध चाणक्य के द्वारा रहस्योद्घाटन करने पर भी, नाटक के अंत में फैली रहती है और पाठक को विश्वास नहीं होता कि इतने सुंदर आवरण में विष-कन्या कैसे ? शायद विष-कन्या का ऐसा अभिनय ही उसकी सफलता का रहस्य होता होगा !

नाटक के दो पात्र मुख्य हैं । चंद्रगुप्त और चाणक्य । चंद्रगुप्त नाटक का नायक है । डॉ० वर्मा और प्रसाद के चंद्रगुप्त में बड़ा अंतर है । जहाँ प्रसाद का चंद्रगुप्त तीन-तीन युवतियों से प्रेम करता है वहीं डॉ० वर्मा उसके मुख से कहलाते हैं—

“ राजनीति कृपाण की धार का मार्ग है । जो व्यक्ति विलासिता का बोझ अपने सिरपर रखकर चलता है वह उस कृपाण को निमंत्रण देता है कि वह उसके शरीर के दो टुकड़े कर दे । ” (पृ. ८ और ९)

और जब राजनर्तकी अलका उसके सम्मुख आती है तो वह उसके सौंदर्य के सामने झुकता नहीं है । उसे सदैव अपने कर्तव्य का ध्यान बना रहता है, अलका से जैसा उसने कहा है —

आधुनिक साहित्य और कला

“मुझे अपने चरणों की धूल वीरों की परम्परा के लिए छोड़नी है, राजनर्तकियों की परम्परा के लिए नहीं।” (पृष्ठ २५)

उक्त वाक्य चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व के अनुरूप है। चंद्रगुप्त को अपनी प्रजा के सुख का सदैव ध्यान बना रहता है। उसके अनुसार—

“शासन का मापदंड प्रजा का संतोष और सुख होना चाहिये।” (पृ० ९)

“फिर प्रजा का संतोष ही मेरे सुख का अग्रदूत है।” (पृ० १०)

वह बड़ा उदार है। प्रजा पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव डालना नहीं चाहता। कौमुदी-महोत्सव का व्यय भार स्वयं वहन करता है, यद्यपि कौमुदी-महोत्सव प्रजा-वर्ग के मनोरंजन के लिए ही किया जा रहा है। वह मनोविज्ञान के सहारे अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। कौमुदी-महोत्सव के आयोजन का भी एक यही कारण है। वसुगुप्त उसकी चापलूसी करता है, पर चंद्रगुप्त पर एक दुर्बल व्यक्ति की तरह उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और एक स्थल पर तो वह उससे साफ कह देता है—

“वसुगुप्त तुम्हारी प्रशंसा अतिशयोक्ति से भरी होती है। इतनी प्रशंसा सुनकर मुझे कभी-कभी संदेह होने लगता है।” (पृष्ठ १४)

डॉ० वर्मा ने चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व को बड़ा सबल बनाया है; ठीक उसी धारणा के अनुसार जो वे उद्देश्य के अंतर्गत व्यक्त कर चुके हैं। वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली नहीं है। उसके भी मस्तिष्क और विचार शक्ति है। वह बिना चाणक्य की आज्ञा के कौमुदी-महोत्सव की घोषणा ही नहीं करता वरन चाणक्य से निर्भय होकर वाद-विवाद करता है और यह प्रकट करता है कि वह चाणक्य के बलपर ही जीवित नहीं है—

“आर्य! विश्राम के क्षणों की सोमा क्या और कितनी है, यह जानने के लिए चंद्रगुप्त के पास पर्याप्त विवेक है...।” (पृ० २८)

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

“मौर्य चंद्रगुप्त हिमाद्रि की तरह सुदृढ़ है जिसे महामंत्री चाणक्य की कुटिल राजनीति रूपी श्रौंघियों के झोंके एक कण भर भी विचलित नहीं कर सकते ।” (पृ० ३१)

“आर्य चाणक्य ! संसार में जितने प्रतापशाली राज्य हुए हैं क्या वे सब महामंत्री चाणक्य की राजनीति के बल पर ही हुए हैं ? और जहाँ महामंत्री चाणक्य नहीं है, वहाँ किसी राज्य की स्थापना भी नहीं है ? क्या सारे राज्यों की शक्ति महामंत्री चाणक्य की शक्ति से ही भिक्षा माँगकर संसार में चली है और क्या चंद्रगुप्त इतना होन है कि उस शक्ति के बलपर ही विजय प्राप्त करता है ? तब जाने दो ऐसी शक्ति को ! उसे मैं आज ही दूर करता हूँ । महामंत्री चाणक्य ! तुम महामंत्री पद से मुक्त किये गये ।” (पृ. ३१-३२)

इतना ही नहीं वह सर्वथा राज्योचित मर्यादा को सुरक्षित रखता हुआ कहता है—

“जाने के पूर्व अपने नवीन समाहर्ता वसुगुप्त और राजनर्त्तकी अलका पर लगाये हुए लांछन का निराकरण करना होगा और यदि यह लांछन असत्य निकला तो राज्य का दंड-विधान अपराधी को पहचानता है । यह मेरा अंतिम आदेश है ।” (पृ. ३४, ३५)

निःसंदेह चंद्रगुप्त का ऐसा व्यक्तित्व साहित्य में पहली बार देखने में आया है जो उसकी गरिमा के अनुकूल है । पूर्व के नाटककारों द्वारा चंद्रगुप्त के साथ जो अनजान भाव से अन्याय हुआ था उसका एक प्रकार से परिमार्जन हो जाता है । चाणक्य को चंद्रगुप्त उचित ढंग से डाँटता अवश्य है, पर उसके विचार उनके प्रति बहुत ऊँचे हैं जैसा कि इतिहास से विदित है—

‘नीति-निष्ठात आर्य चाणक्य के समान बुद्धि और अन्तर्दृष्टि में

आधुनिक साहित्य और कला

आज समस्त आर्यावर्त में एक भी व्यक्ति नहीं है । यह मेरा सौभाग्य है कि वे मेरे आचार्य और महामंत्री हैं ।' (पृ० १७)

‘मानवी-हृदय को पहचानने का अन्तर्दृष्टि उनमें इतनी अधिक है कि वे एक ही क्षण में उसका सम्पूर्ण कार्यक्रम स्पष्टतः बतला सकते हैं । वे कार्य करने की शैली जानते हैं । अपूर्व शक्ति, अपूर्व बुद्धि का विचित्र समन्वय उनमें हुआ है ।’ (पृ० १७ और १९)

प्रस्तुत नाटक में चाणक्य अपने उसी हठी और उद्धत व्यक्तित्व के साथ मंच पर आता है । उसका प्रथम वाक्य ही— ‘पुरस्कार नहीं दिया जायेगा सम्राट !’ उसके असाधारण रूप को प्रकट करता है । चंद्रगुप्त द्वारा पद-च्युत किये जाने पर—

‘मौर्य ! यह लो अपना शस्त्र (फेंक देते हैं) यह कलंक इसी समय दूर करता हूँ ।’ (पृ० ३२)

और फिर उसके द्वारा महामंत्री शब्द के उच्चार करने पर—

“महामंत्री मत कहो, मौर्य ! मैं अब तुम्हारा महामंत्री नहीं हूँ । मैं भी तुम्हें सम्राट नहीं कह रहा हूँ । मैं केवल एक ब्राह्मण हूँ ।”

(पृ० ३४)

आदि स्थल उसके अदम्य व्यक्तित्व के परिचायक हैं । एकांकीकार ने चाणक्य को उच्च-पद से गिराया नहीं है । पर नाटक में यशोवर्मन के प्रवेश करने से चाणक्य के गौरव में कुछ कमो आ जाती है । यशोवर्मन एक साधारण अंतःपाल है, पर वह बड़ा बुद्धिमान राजभक्त और दूरदर्शी व्यक्ति है । जो बात चाणक्य समझता है उससे यशोवर्मन पहले से ही सचेत है और मौका पड़ने पर वह चंद्रगुप्त से भी अपनी मर्यादानुसार सावधान रहने का संकेत करता है । यशोवर्मन के प्रवेश से जहाँ एक ओर चाणक्य के व्यक्तित्व की असाधारणता कम हुई है, वहीं दूसरी

डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कौमुदी-महोत्सव'

और उसकी अतिमानवीयता के न होने का कारण बनना भी चाणक्य को मनुष्योचित धरातल पर ला देता है, अन्यथा चाणक्य की असाधारणता एक अस्वाभाविक वस्तु बन जाती ।

डॉ० वर्मा ने निस्संदेह 'कौमुदी-महोत्सव' में कला और विचार-शक्ति का पूरा-पूरा परिचय दिया है । इतिहास के सत्य के आधार पर साहित्य में भारतीय संस्कृति के महान् सम्राट् चंद्रगुप्त के सम्राटत्व की रक्षा की है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं ।



श्री माखनलाल चतुर्वेदी

का

कवि-व्यक्तित्व

श्री माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी-काव्य-संसार में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रीमाखनलाल अपने समय के अत्यधिक लोकप्रिय कवि थे, किन्तु वर्तमान समय में उनका ऐतिहासिक मूल्य ही आँका जा सकता है—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रखरता के साथ माखनलाल का हिन्दी-काव्याकाश में उदय हुआ था वह प्रखरता उनमें आज भी मौजूद है। यह जरूर है कि वे आज वृद्धावस्था में मौनवत् हैं, पर जब जब कभी भी यह मौन भंग होता है तब उसका स्वर उतना ही सशक्त, उतना ही प्रखर होता है जितना कि पहले था। जो कवि साम्राज्यवादी-प्रभुत्व के विरुद्ध आजन्म लड़ता रहा है वह क्या आज मानवीय मूल्यों को भूल जायगा? और साम्राज्यवाद भी क्या संसार से उठ गया? भारतीय स्वाधीनता ने जिस तरह साम्राज्यवादी दमन-चक्र में दबे हुए अन्य देशों के मुक्ति-संघर्ष को बल पहुँचाया है उसी प्रकार उसके आराधकों को भी बल पहुँचाना चाहिये। माखनलाल की स्पष्ट वाणी आज भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध गरज रही है। वे साम्राज्यवाद-विरोधी महान् राष्ट्रीय-कवि हैं जिनकी रचनाओं से प्रत्येक देश प्रेरणा ग्रहण कर सकता है।

आधुनिक साहित्य और कला

उन्होंने 'अमर-राष्ट्र' का जो सपना देखा था वह पूरा नहीं हुआ। देश स्वाधीन जरूर हुआ, पर उसके दो टुकड़े कर दिये गये। माखन-लाल की 'हिमकिरीटिनी' खंडित हो गयी। उनकी 'हिमतरंगिनी' विषाक्त हो उठी। प्रत्येक बलि-पंथो के लिए देश का विभाजन एक मर्मान्तक घटना थी। माना कि जिस साध को कवि वर्षों से सँजोये आ रहा था, वह पूरी नहीं हुई, तथापि एशिया का एक विस्तृत भू-खंड साम्राज्यवादी चंगुल से तो मुक्त हुआ हो। प्रगतिशील विचार-धारा के लोगों ने यदि एक ओर अंग्रेज-साम्राज्यवादियों को देश-विभाजन-नीति को निंदा की तो दूसरी ओर इस परिवर्तन का स्वागत भी किया। भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की जमीन पर स्वाधीनता-सूर्य की नयी किरणें पड़ीं। दोनों देश नये प्रभात से आलोकित हो उठे! जनता ने यह समझकर संतोष को साँस ली कि भाई-भाई के बीच घर का बँटवारा हो गया। इस भाई-भाई की भावना में कोई राजनीतिक राज नहीं। प्राचीन काल से भारत संसार में विश्व-बंधुत्व की भावनाओं का मुख्य प्रसारक रहा है। तिस पर पाकिस्तान पड़ोसी देश है—ऐसा पड़ोसी, जो किसी भी नैसर्गिक-सीमा से भारत से अलग नहीं है, अतः दोनों देश एक दूसरे की आन्तरिक हलचलों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। यदि पाकिस्तान किसी भी कारणश पुनः साम्राज्यवादी चंगुल में फँसता है तो एक तो इस नाते उसकी इस नीति का विरोध जरूरी है कि साम्राज्यवादी प्रभुत्व एशिया में पुनः अपनी जड़ जमा लेगा, दूसरे उससे भारतीय-जीवन पर भी प्रभाव पड़ेगा और तीसरे पाकिस्तान से हमारे सांस्कृतिक संबंध होने के कारण हम यह नहीं चाहते कि उसका पतन हो। प्रश्न चाहने या न चाहने का नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि पाकिस्तान ने अमरुकी साम्राज्यवादियों से पौजो समझौता कर लिया है जिसके फलस्वरूप-

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

एशिया के आसमान में युद्ध के बादल छाने लगे हैं। प्रत्येक शांतिप्रिय देश ने इस समझौते की निंदा की है और पाकिस्तान के इरादों का पर्दा-फ़ाश किया है। 'एक भारतीय आत्मा' ने जब इन भयावह बादलों को अपने 'राष्ट्र-मंदिर' के ऊपर उमड़ते देखा तो उसको आत्मा सिहर उठी। उसे अपने पड़ोसी की नादानी पर दया आयी और उसने बड़े तर्क-संगत ढंग से संबंधित घटना के भावी कुपरिणामों से पाकिस्तान को सचेत करना चाहा। माखनलाल का यह साम्राज्य-विरोधी स्वर भारतीय साहित्य में खास अहमियत रखता है। वे कितने दर्द और आवेश से 'पड़ोसी से' कहते हैं —

बहुत बोल मत बोले, सपने तेरे हैं उधार के राजा !
बहुत भले लगते हों, गहने तेरे हैं उधार के राजा !
तुझे जोश आता है देखा, तुझे खीझ होती है, माना ;
पर, तूने अपने दाता की हरी पुनलियों को पहचाना ?
तू उनका युग-युग गुलाम रे, तू उनकी अनमोल जरूरत ।
तू तो बेच रहा है गाफिल, अपनी सूरत और जरूरत ।
जुगराफिया देखकर अपना जोर रहन रख जोड़ लगा ;
भाई को दुश्मन कह-कह ईमान बेचकर होड़ लगा !
दिन-गिन, सपने गिन, अरमानों की क़ब्रों के पत्थर भी गिन ,
क्या इस तरह हुआ करती है कहीं मादरे वतन सुहागिन ?
केशर के बागों में क्या अमरीका अंगारे बोवेगा ?
क्या बहिश्त का टुकड़ा भी दोज़ख के पैरों को धोवेगा ?
वधिक न जीने देगा क्या काश्मीरी कस्तूरी के वे मृग ?
क्या जंजीरों से जकड़े दीखेंगे यार वितस्ता के मग ?
क्या डालर के मोल बिकेंगे रूप, राम, असमत औ' मानी ?

आधुनिक साहित्य और कला

क्या बरबादी या कि गुलामी हैं तेरी हस्ती के मानी ?
'डालर', हँसिया और हथौड़ा' दो चक्की के पाटों पिसकर ?
क्या एशिया चूर्ण कर दोगे ? कोटि-कोटि शिर कोटि-कोटि कर ?
कलमा औ' कुरान से भूषित तेरी माँग भरी रहने दे !
तेरी आज़ादी की बेलें, यूँ मत बेच, हरी रहने दे !

उपर्युक्त कविता से कवि की उदार-भावना के दर्शन होते हैं। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ और पाकिस्तान के शुभचिन्तक पाक अमरीकी समझौते को रूकवाने में असफल रहे, लेकिन 'एक भारतीय आत्मा' की उपर्युक्त कविता यदि पाकिस्तान के कर्णधारों ने पढ़ी होती तो यकीनन उनमें से कितनों के ही विचार बदल जाते। कवि की वाणी का यही जादू है जो हमारे हृदय को अभिभूत कर लेता है। राजनीतिज्ञों के धुँआधार प्रचर में आज कवि का स्वर दबा हुआ है। लेकिन जनता अब राजनीति से ऊबने लगी है। भविष्य में देश-देश के सांस्कृतिक संबंध ही मानव-कल्याण की दिशा में उपयोगी हो सकते हैं। पाकिस्तान और भारत की जनवादी काव्य परम्परा जब एक दूसरे के सम्पर्क में आयेगी तब माखनलाल की कविता का मूल्य भलीभाँति समझा जा सकेगा।

लेकिन उपर्युक्त कविता के बारे में एक शिकायत है। कवि ने 'डालर' और 'हँसिया और हथौड़ा' को चक्की के दो पाट बताये हैं जिनके नीचे मनुष्यता पीसी जा रही है। यह बात नितान्त असत्य है। अमरीकी डालरशाही ने दुनिया पर जो तबाही बरपा की है उसकी सोवियत-सरकार वाले शक्तिप्रिय देश रूस से तुड़ना करना असंगत ही नहीं, आमक भी है। सम्भवतः ऐसा हम 'तटस्थता' के आवेश में कर जाते हैं। यह बात जाहिर हो चुकी है कि भारत वर्तमान परिस्थितियों में तथा सिद्धान्त रूप में भी तटस्थ देश नहीं है। तटस्थता बुद्धिमत्ता

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

की निशानी नहीं है। जैसी बार-बार घोषणा की जा चुकी है कि भारत का दृष्टिकोण निष्पक्षता का दृष्टिकोण है, वह विश्व की मौजूदा समस्याओं से किनाराकशी करने का दृष्टिकोण नहीं है। ऐसी सूरत में, और वास्तव में भी, हमें तटस्थता की शरण न लेकर निष्पक्षता का अनुसरण करना चाहिये। दुनिया की एक बहुत बड़ी जन-संख्या, जिसका नेतृत्व 'हूसिया और हथौड़ा' कर रहा है, जो शांति और संस्कृति की रक्षा के लिए साधना-रत है उसकी तुलना जंगबाज और पूँजीशाही देश से करना अनुचित है। इससे एक बहुत बड़ी जन-संख्या की भावनाओं को धक्का पहुँचेगा।

वास्तव में आज चक्को के दो पाट हैं—एक तो किसी देश को आर्थिक-पराधीनता-पाश में जकड़ देने की डालरी और फौजी मदद और दूसरा देश-देश की जातीय संस्कृतियों पर हावी होने का 'विश्व-संस्कृति' का नारा। एक पाट आर्थिक है और दूसरा सांस्कृतिक। 'डालर' चाहता है कि प्रत्येक देश उसके इन दो पाटों की लपेट में आ जाय, जबकि इसके विपरीत 'हूसिया और हथौड़ा' देश-देश की संस्कृतियों को ही नहीं, वरन्, प्रादेशिक संस्कृतियों तक को जीवित रखने में अपना गौरव समझता है और आर्थिक क्षेत्र में समानता का जबरदस्त कायल है। यदि माखनलाल की इस कविता में निम्नलिखित दो पंक्तियाँ न होतीं तो यह कविता विश्व-व्यापी प्रभाव के साथ-साथ भारतीय जनता की भावनाओं का भी सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करती—

‘डालर’, ‘हूसिया और हथौड़ा’ दो चक्को के पाटों पिसकर
क्या एशिया चूर्ण कर दोगे ? कोटि-कोटि शिर कोटि कोटि कर ?

फिर भी श्री० माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय तथा साम्राज्य-विरोधी कवि हैं। उनकी राष्ट्रीयता पर गांधीवाद का प्रभाव है। वस्तुतः उन्हें

आधुनिक साहित्य और कला

हिन्दी की गांधीवादी काव्य-परम्परा का कवि कहना ही समीचीन है, भले ही उनमें कुछ असंगतियाँ विद्यमान हों। हिन्दी कविता में गांधीवाद की अभिव्यक्ति कम ही हुई है। गांधीजी पर मात्र काव्य-रचना कर देने से कोई कवि गांधीवादी नहीं बन जाता; उसमें व्यक्ति-पूजा की भावना के ही दर्शन हो सकते हैं; दूसरे गांधीवादी-दर्शन को पद्य-बद्ध कर देने मात्र से कोई व्यक्ति कवि के पद को नहीं पा सकता। शिवमंगल सिंह 'सुमन', बच्चन आदि ने गांधीजी पर कई लम्बी-लम्बी तथा सुंदर कविताएँ लिखी हैं। इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पंत ने 'युगवाणी' में गांधीवादी-दर्शन को पद्य-बद्ध करने का प्रयास किया है—फिर भी इन कवियों को कोई गांधीवादी स्वीकार नहीं करेगा। गांधीवादी कवि के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उसका जीवन भी गांधीजी के आदर्शों के अनुरूप हो—उसने सच्चे हृदय से उन आदर्शों और विचारों को आत्मसात किया हो। इस दृष्टि से हिन्दी के गांधीवादी कवियों का क्रम इस प्रकार ठहरता है—मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, सोहनलाल द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नटवरलाल 'स्नेही' ('गांधी-मानस' के रचनाकार) आदि। इन सभी कवियों में माखनलाल जी का व्यक्तित्व अपनी पृथक् सत्ता रखता है। जीवन-साधना और काल-क्रम से वे मैथिलीशरण जी के समकक्ष ठहरते हैं। आगे के कवियों ने इस परम्परा को अपनाया तथा थोड़े-बहुत अंशों में उनमें प्रेरणा भी ग्रहण की।

प्रारम्भ में माखनलाल जी को हम गांधीवाद के अंध-भक्त के रूप में देखते हैं, जहाँ बिना कुछ सोचे-समझे नेता का आज्ञापालन आदर्श रूप में उपस्थित किया गया है—

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

बिगुल बज गया, चल पड़ी सैन्य, धरा भी होने लगी अधीर,
खाइयाँ खोदीं रिपु ने हाथ ! पार हों कैसे सैनिक वीर !
पूर दें इनको मेरे शर शरीरों से—दे दिये शरीर,
इधर यों सेनापति ने कहा उधर बिछ गये सहस्रों वीर ।

यहाँ 'वीरोचित-कर्म' (Heroic-Deed) के रूप में सैनिक अनुशासन का समर्थन किया गया है जहाँ विजय पाने की लालसा से मनुष्य-जीवन को बेजान वस्तु समझा जाता है । दूसरे यहाँ कवि मध्य-युगीन-भावनाओं से भी अनुप्राणित प्रतीत होता है । कवि अपने 'सेनापति' गांधीजी के आदेश पर आत्म-बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है । लेकिन आगे चलकर वे गांधीजी पर अपार श्रद्धा रखते हुए भी गांधीवाद के अंध-भक्त नहीं रहे । कहीं-कहीं तो वे उसके आलोचक तक बन गये । यथा —

अमर राष्ट्र, उदण्ड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र
यह मेरी बोली !
यह सुधार - 'समझौतों' वाली
मुझको भाती नहीं ठिठोली !

यहाँ गांधीवादी तौर-तरीकों की स्पष्ट आलोचना है । यहाँ उनका क्रान्तिकारी रूप प्रकट हो गया है । कोई भी स्वतन्त्र चेता कवि किसी 'वाद' विशेष के पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों पर काव्य-रचना नहीं करता । वह तो समय की दशा तथा परिस्थितियों से अनुभूति ग्रहण करता है । यही अनुभूति उसकी जीवन-साधना में तपकर कविता के रूप में व्यक्त होती है ।

माखनलाल ने राष्ट्रीय हिन्दी-कविता के क्षेत्र में बड़े ओजस्वी एवं मर्मस्पर्शी स्वरों के साथ प्रवेश किया था । उनमें बलिदान की भावना

आधुनिक साहित्य और कला

सबसे अधिक है। वस्तुतः उनका समग्र साहित्य बलि-पंथो है। देश को उस समय बलि-पंथियों की ही जरूरत थी। 'पुरुष की अभिलाषा' के माध्यम से कवि ने जो भावोद्गार प्रकट किये हैं वे अनुपम हैं—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ !
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि, डाला जाऊँ ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक !

हिन्दी-कविता में माखनलाल का नाम अमर रखने के लिए केवल उपर्युक्त पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। इतने सबल रूप में बलि-भावना की अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। इस बलिदान को 'सत्याग्रह' ने प्रेरणा दी। सत्याग्रही—सत्य को आत्मसात् करने के पश्चात् ही बलिदान के लिए प्रस्तुत होता है। उसका आदर्श फौजी-सैनिक से एकदम विपरीत है। सत्याग्रही उसकी अपेक्षा शरीर से अधिक बलवान भले ही न हो, परन्तु उसके आत्मिक-बल की समता संसार की कोई वस्तु नहीं कर सकती। उसकी इस शक्ति का पैमाना है—

एक फूँक मेरा अभिमत है,
फूँक चलूँ जिससे नभ-जल-थल !

वह धरती को स्वर्ग बनाने की क्षमता रखता है। उसका एक-एक पल बहुमूल्य है—

मेरी आँखें मातृ-भूमि से
नक्षत्रों तक, खींचें रेखा,
मेरी पलक-पलक पर गिरता
जग के उथल-पुथल का लेखा !

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

इस सत्याग्रही के समक्ष काल और कराली तक थराते हैं। काल का अमोघ-शस्त्र कुंठित हो जाता है और कराली की हुंकार बंद हो जाती हैं—

फिसलते काल करों से शस्त्र
कराली कर लेती मुँह बंद !

लेकिन सत्याग्रही के हाथों में कोई शस्त्र नहीं है। वह एक अहिंसक सैनिक है। हथियार न लेने की उसने सौगन्ध खायी है। उसे हथकड़ियों और कारागृहों से प्यार है ! जंजीरें ही उसके गले का हार हैं। 'निःशस्त्र-सेनानी' में कवि कहता है—

पलट जाय चाहे संसार,
न लूँगा इन हाथों हथियार !
प्यार ! उन हथकड़ियों से और
कृष्ण के जन्मस्थल से प्यार !
हार ! कंधों पर चुभती हुई
अनोखी जंजीरें हैं हार !

तिलक, गांधी और गणेशशंकर 'विद्यार्थी' का युग 'एक भारतीय आत्मा' के काव्य की पंक्ति-पंक्ति में बोलता नजर आता है। हजारों बलि-पंथियों को माखनलाल की कविता ने प्रेरणा दी है और देशकाल की सीमाओं के पार आगे भी देती रहेगी। 'बलि-पथ' सूली का पथ है। वहाँ सुख-सुविधाओं के लिए स्थान कहाँ ?

सूली का पथ ही सीखा हूँ,
सुविधा सदा बचाता आया।
मैं बलि-पथ का अंगारा हूँ
जीवन-ज्वाल जगाता आया।

आधुनिक साहित्य और कला

जो लोग इस पथ पर नहीं चल सकते हैं, उनका निस्तार नहीं है। राष्ट्र के लिए मर मिटने का पथ जो नहीं अपनाता वह एक तरह से नैतिक-मृत्यु का रास्ता ढूँढता है। उसे जहालत और अपमान की जिन्दगी ही प्रिय हो सकती है —

इस चढ़ाव पर चढ़ न सकोगे,
इस उतार से जा न सकोगे,
तो तुम मरने का पथ ढूँढो
जीवन-पथ अपना न सकोगे।

कवि ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'अमर-राष्ट्र' में क्रांति का शंखनाद किया है। उसने अपने त्याग और बलिदान से क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित की है। राष्ट्रीय स्वाधीनता का मार्ग खोला है —

युग की होली माँग रही है,
लाओ उसमें आग लगा दें !

वह 'राष्ट्र-मंदिर' की नींव का पहला पत्थर है। बलिपंथी जबतक नींव के पत्थर नहीं बन जाते तबतक भावी-राष्ट्र-मंदिर का निर्माण नहीं हो सकता। नींव का पत्थर भावी-राष्ट्र-मंदिर को स्वयं देख नहीं सकता, केवल अनुमान लगा सकता है। उसका बलिदान महान् होता है। व्यक्ति-रूप में भले ही वह यशस्वी न हो सके —

मैं पहला पत्थर मंदिर का,
अनजाना पथ जान रहा हूँ,
गड्डूँ नींव में अपने कंधों,
पर मंदिर अनुमान रहा हूँ।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

इसीलिए वे युग-जवानी को जलकारते हैं—

कौन कहता है कि तू
विधवा हुई, खो आज पानी ?

कहीं ऐसा भी हुआ है ?—

चल रही है साँस
फिर तू ठहर जाये ?
दो सदी पीछे कि
तेरी लहर जाये ?

परीक्षा के लिए आज सुभवसर है । जाँच कर देख लो कि कहीं
तुम्हारी नसों का खून पानी तो नहीं हो गया है—

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी !

जाँच कर, तू सीस दे देकर जवानी !

‘कैदी और कोकिला’ कवि की एक और बड़ी लोकप्रिय कविता है ।
‘कैदी और कोकिला’ अपने भावावेश के साथ वातावरण-चित्रण का
अद्भुत दृश्य उपस्थित करता है । निम्नलिखित पक्तियों में कारागृह
साकार हो उठा है—

बंदी सोते हैं, है घरघर आसों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है लोहे के दरवाजों का,
बूटों का, या संत्री की आवाजों का,
या गिनने वाले करते हाहाकार !
सारी रातों है—एक, दो, तीन, चार !

स्वाधीनता-संग्राम के दृढ़-प्रतिज्ञ सैनिक होने के कारण माखनलाल
चतुर्वेदी ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में सदैव भाग लिया और कई बार जेल-

आधुनिक साहित्य और कला

यात्राएँ कीं । जब सारे 'कैदी' सोते थे तब अकेला कवि जागता था । चारों ओर सघन अंधकार के सिवा जहाँ कुछ नजर न आता था, वहाँ कवि ने भावी-राष्ट्र का स्वप्न अपनी आँखों में उतारा था । उन्होंने भारत की पराधीनता का यथार्थ-चित्रण प्रस्तुत कविता में किया है जहाँ कारागृह-चित्रण के माध्यम से देश की विवशता उभर-उभर कर सामने आयी है जो कवि के हृदय की वेदना को भली-भाँति प्रकट कर देती है—

ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना !
जीवन पर अब दिनरात कड़ा पहरा है
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है ?

और जब कोयल को देखकर कवि कहता है—

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली !
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार !
तेरे गीत कहायें वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !

तो हृदय की आग आँसुओं के रूप में बरबस फूट पड़ती है । 'कोकिल' मानों स्वाधीन-राष्ट्र का प्रतीक है । 'कवि' और 'कोकिल' की अवस्थाओं में कितना अंतर है ! लेकिन कवि निराश नहीं होता । उसका आक्रोश ब्रिटिश-राज को चुनौती देता है—

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कवि-व्यक्तित्व

क्या ?—देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश-राज का गहना,
कोल्हू का चरक चूँ ?—जीवन की तान,
गिट्टी पर अँगुलियों ने लिक्खे गान ?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश-अकड़ का कूँआ !

यहाँ कवि सम्पूर्ण भारत के स्वाभिमान का प्रतिनिधित्व करता है ।
जिस समय राजनीतिक कैदियों के साथ अमानुषिक व्यवहार होता था,
देश के कितने ही युवकों ने स्वाधीनता-संग्राम में सहर्ष आत्मोत्सर्ग कर
दिया था—कवि ने निष्क्रिय और तटस्थ जनता को विद्रोह के लिए
छलकारा था—

जम्बुकेश ! चलो जहाँ संहार है,
वन्य पशुओं का लगा बाजार है,
आज सारी रात कूकेंगे वहाँ
मोम-दीपों का मरण-त्यौहार है !

‘मरण-त्यौहार’ का यह व्यंग्य कितना पैना और अचूक है !

माखनलाल जी की कविता सामयिकता में डूबी हुई है । कुछ
आलोचक इस सामयिकता को सस्ती भावुकता कहते हैं । स्पष्ट है, वे
छोग कविता की क्रान्तिकारी-भूमिका की ओर नहीं देखते । सामयिकता
को अवहेलना करके कोई भी कवि समाज के लिए कल्याणकारी-साहित्य
का सृजन नहीं कर सकता । सामयिकता जब कविता अथवा कला के
रूप में व्यक्त होती है तभी समाज को गति मिलती है, जन-आन्दोलनों
को बल मिलता है, इसीलिए तो विरोधी-पक्ष सामयिकता के विरुद्ध
नारा लगाता है और ऐसे साहित्य को उच्चासन से गिराने का असफल

आधुनिक साहित्य और कला

प्रयत्न करता है। 'हिमकिरीटिनी' की भूमिका में कवि ने लिखा है, ".....युग का गायक, युग के परिवर्तनों को आँखें मूँदकर अपनी कला को पुरुषार्थमयी नहीं रख सकता।" तभी तो उनके काव्य में युग-स्वर मुखर हो उठा है—

मैं 'मुँहबंदी' का हार हिये,
'मत लिखो' कठिन कंकण धारे,
'भारत-रक्षा' के शूलों की
पाँवों में बेड़ी भनकारे !
'हथियार न लो' की हथकड़ियाँ
रौलट का हिय में घाव लिये,
डायर से अपने लाल कटा
कहतीं थी आँचल लाल किए।

विद्यार्थी-समाज की ओर भी कवि की दृष्टि गयी है, लेकिन वहाँ भी राष्ट्रीयता व स्वदेशी की भावना विद्यमान है, यद्यपि औद्योगिक-प्रगति पर कवि का अधिक जोर है—

घर-घर में जगदीशचंद्र वसु होना काम हमारा ही है,
बनकर कृषक गर्व से कृषि को बोना काम हमारा ही है।
शिल्प बढ़ाकर ताजमहल फिर रचकरके दिखलाने होंगे,
व्यापारी बन देश-देश में अपने पोत घुमाने होंगे।
रेल-तार, आकाश-न्याय ये हम क्या कभी बना न सकेंगे ?
शुद्ध स्वदेशी पीताम्बर क्या माधव को पहना न सकेंगे ?

इस प्रकार श्रीमान्नलाल चतुर्वेदी ने एक सच्चे देशभक्त राष्ट्रीय कवि के नाते सामयिकता को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। यद्यपि उनके अंतर में एक प्रेमी भी निवास करता है जो रहस्यमय

आज्ञेय
की
कविता

‘अज्ञेय’ ने नयी स्थापनाओं एवं अभिव्यंजना सम्बन्धी मौलिक विशेषताओं के कारण हिन्दी-काव्य-साहित्य में एक नया आकर्षण उत्पन्न कर दिया है ।

नयी हिन्दी-कविता की धारा आज विभिन्न रूपों में उद्भूत हो रही है । छायावादी युग के बाद कवियों ने हिन्दी कविता में नये-नये प्रयोग किये हैं । नवीन युग के आरंभ में जब नये विचारों की अभिव्यंजना होती है तब टेकनिक को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता । कविता स्वयं अपनी वैचारिक अथवा विषयगत नवीनता के कारण पाठकों को आकर्षित करती है । उसे किसी विशेष अलंकरण की आवश्यकता नहीं होती । ‘पंत’ जी ने ‘ग्राम्या’ में ‘वाणी’ शीर्षक कविता में लिखा है—

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलंकार !

किन्तु जैसे-जैसे नये युग की यह नवीनता पुरानी पड़ती जाती है, वैसे-वैसे कविता को अधिक कलात्मक बनाने की आवश्यकता अनिवार्य हो उठती है । इसी समय कवितागत नये प्रयोग भी जन्म लेते हैं ।

आधुनिक साहित्य और कला

अभिव्यंजना प्रक्रिया विविध रूपों में साहित्य के समक्ष आती है। टेकनिक संबंधी ये नए प्रयोग 'अज्ञेय' के काव्य में भरे पड़े हैं।

'अज्ञेय' का आविर्भाव छायावादी-युग के संध्याकाल में हुआ, अतः उनकी रचनाओं में एक वैचित्र्य एवं अस्थिरता के दर्शन होते हैं। छायावादी-युग से लेकर आज तक की हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराएँ (प्रगतिवादी धारा को छोड़ कर) 'अज्ञेय' की रचनाओं में मिलती हैं। जिनमें से कुछ के तो ये स्वयं जनक हैं; जनक से अभिप्राय हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रविष्ट करनेवाले अगुआ-से है, जैसे प्रतीकवादी और प्रयोगवादी धाराएँ। वे अपनी असामाजिकता तथा वैयक्तिकता के कारण प्रगतिशील कवि नहीं कहे जा सकते। उनका विचार-पक्ष सामाजिक चेतना पर आधारित नहीं है। इसी कारण उनकी कविताओं में प्रगतिवादी कविता की तरह सामाजिक यथार्थ के दर्शन नहीं होते। स्वस्थ सामाजिक भावनाएँ, क्रांति तथा राष्ट्रीय चेतना भी 'अज्ञेय' की रचनाओं में नहीं है। युग-जीवन और जन-जीवन से पृथक होने के कारण उन्हें प्रगतिशील कवि नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपनी कविताओं में शुद्ध टेकनिक और अभिव्यंजना संबंधी नये प्रयोग किये हैं। हिन्दी के लिए उक्त कविता का स्वरूप एकदम नया है। असामाजिक एवं अहंग्राही होते हुए भी 'अज्ञेय' प्रतिभाशाली कवि हैं।

'अज्ञेय' की चुनी हुई कविताओं का संग्रह 'इत्यलम्' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन संग्रहीत कविताओं का रचना-काल सन् १९३० से १९४५ तक है। अतः 'इत्यलम्' की कविताएँ एकरूप नहीं हैं। पन्द्रह-वर्षों की स्वर-साधना एक ही भी कैसे सकती हैं? इन कविताओं में आदि से अंत तक विकास और परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दिखायी देते हैं। समस्त कविताएँ पाँच-भागों में बाँटी गयी हैं—भगवत, बंदी-स्वप्न,

अज्ञेय की कविता

हिय-हारिल, वंशना के दुर्ग, और मिट्टी की ईहा । जो कविताएँ इस चुनाव में नहीं आयी हैं, उनके संबंध में कवि का अनुरोध है कि 'उनका अस्तित्व नहीं है, ऐसा मान लिया जाय ।'^१

'अज्ञेय' भाववादी न होकर बुद्धिवादी काव्य-धारा के कवि हैं । हिन्दी-कविता इतनी बौद्धिक पहले कभी भी देखने में नहीं आयी । उनकी यह बौद्धिक-प्रक्रिया बेजोड़ है । यह बौद्धिकता सजग है, तर्कपूर्ण है । तर्क-शैली की अनेक बौद्धिक-कविताएँ 'इत्यलम्' में मिलती हैं । 'शिशिर के प्रति' व 'दीपावली का एक दीप' इसी प्रकार की कविताएँ हैं । यथा—

दीपक हूँ, मस्तक पर मेरे
अग्नि-शिखा है नाच रही—
यही सोच समझा था शायद
आदर मेरा करें सभी !

किन्तु जल गया प्राण-सूत्र जब
स्नेह सभी निःशेष हुआ—
बुझी ज्योति मेरे जीवन की
शव से उठने लगा धुआँ ।

×

×

×

मुझे विजित लख कर भी दर्शक
नहीं मौन हो रहते हैं,
तिरस्कार विद्रूप भरे वे
वचन मुझे आ कहते हैं—

१. 'इत्यलम्' के बाद 'अज्ञेय' के 'शरणार्थी', 'हरी घास पर क्षण भर' और 'बावरा अहेरी' नामक तीन कविता-संग्रह और प्रकाशित हुए हैं ।

आधुनिक साहित्य और कला

‘बना रखी थी हमने दीपों
की सुंदर ज्योतिर्माला—
रे कृतघ्न, तूने बुझ कर क्यों
उसको खंडित कर डाला ?

‘प्रस्थान’ शीर्षक कविता में भी बौद्धिक पृष्ठभूमि है —

रणक्षेत्र जाने से पहले
सैनिक ! जी भर रो लो !
अंतर की कातरता को
आँखों के जल से धो लो !
मत ले जाओ साथ जली
पीड़ा की सूनी साँसें,
मत पैरों का बोझ बढ़ाओ
लेकर दबी उसाँसें !

वहाँ ? वहाँ पर केवल तुमको
लड़ - लड़ मरना होगा,
गिरते भी औरों के पथ से
हट कर बढ़ना होगा !

उक्त कविताएँ ‘भग्न-दूत’ खण्ड की हैं। ‘अज्ञेय’ को यह बौद्धिक-प्रणाली नितान्त मौलिक है। उनके अनुभव करने की रीति निजी है। प्रत्येक वस्तु को वे नये रूप में अनुभव करते हैं। उनका यह अनुभव ही उनकी बौद्धिकता के लिए उत्तरदायी है। वस्तुओं को देखकर उनके संबंध में नये ढंग से सोचना ‘अज्ञेय’ की मुख्य विशेषताओं में से है। भावों को ग्रहण करने की यह विशेषता ‘इत्यलम्’ में जगह-जगह मिलेगी। यह बौद्धिक-प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म एवं मौलिक रूप में व्यक्त

अज्ञेय की कविता

हुई है कि वह पाठकों के मन पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती । 'अज्ञेय' यहीं परम्परा से हट कर हिन्दी को कुछ नयापन प्रदान करते हैं । भावों को ग्रहण करने की कला में वे अद्वितीय हैं । कवि की यह भाव-चेतना यौन वर्जनाओं पर अधिक आधारित है ।

छायावादी प्रवृत्तियाँ 'अज्ञेय' की आरम्भिक रचनाओं में मिलती हैं । किसी भी परम्परा का लोप एकदम नहीं होता, उसके अवशेष किसी-न-किसी रूप में बचे ही रहते हैं । जहाँ तक 'अज्ञेय' का सम्बन्ध है, उनमें छायावादी प्रवृत्ति के दर्शन जगह-जगह होते हैं । इस प्रकार की रचनाएँ नयी काव्य-धारा के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकतीं । 'भग्नदूत' की 'गीति — १' शीर्षक रचना इसी प्रकार की है । यथा—

माँभी, मत हो अधिक अधीर !

×

×

×

थोड़ी देर प्रतीक्षा कर ले साहस से हे वीर—

छोड़ उन्हें क्या तटिनी-तट पर चल देगा बेपीर ?

छायावादी कवियों की तरह ही उनमें कहीं-कहीं अभ्यात्मोन्मुखता भी है । वस्तुओं के प्रति रहस्य-भावना—एवं जिज्ञासा अनेक स्थलों पर देखने को मिलेगी । 'बंदी-स्वप्न' खण्ड की 'विशाल-जीवन' शीर्षक कविता में कवि के सामने प्रश्न है—

है यदि तेरा हृदय विशाल, विराट् प्रणय का इच्छुक क्यों ?

है यदि प्रणय अतल, तो अपनी अतल पूर्ति का भिन्नक क्यों ?

दावानल की काल-ज्वाल जलती बुझती एकाकी ही—

जीवन ही यदि ऊँचा तो ऊँची समाधि हो रक्तक क्यों ?

इसी प्रकार 'भग्नदूत' खंड में 'असीम प्रणय की तृष्णा' के अन्तर्गत—

आधुनिक साहित्य और कला

आशा हीना रजनी के अंतर की चाहें,
हिमकर-विरह-जनित वे भीषण आहें,
जल-जल कर जब बुझ जाती हैं,
जब दिनकर की ज्योत्स्ना से सहसा आलोकित
अभिसारिका उषा के मुख पर पुलकित
ब्रीडा की लाली आती है,

भर देती है मेरा अंतर—
जाने क्या-क्या इच्छाएँ—
क्या अस्फुट, अव्यक्त, अनादि
असीम प्रणय की तृष्णाएँ !

अनुभूति-ग्रहण में यहाँ 'अज्ञेय' छायावाद के निकट आते हैं। इन छायावादी रचनाओं में किसी प्रकार की नवीनता नहीं है। उपमान वही पुरातन हैं।

हिन्दी कविता में 'अज्ञेय' ने जो क्रांति की है उसका संबंध उनकी अभिव्यंजना-प्रणाली से भी है। 'अज्ञेय' की अभिव्यंजना गूढ़ और गहरी है, पर भावों और विचारों को अलंकारों के जाल में नहीं बाँधा गया है। इस नवीन अभिव्यंजना-शैली के कुछ उदाहरण 'हृत्पलम्' के 'मिट्टी की ईहा' खंड से दिये जा सकते हैं—

सत्य एक है
क्योंकि वह एक ग्रन्थि
जिसके सब सूत्र खो गये हैं !

अथवा—

तुम क्यों रात की केवल दो आँखें देखती हो ?
जब कि रात की आँखें असंख्य हैं !

अज्ञेय की कविता

दिन का तुम्हें एक ही चेहरा क्यों दिखता है—

जब कि दिन के चेहरे असंख्य हैं ?

माने हुए को सच जानना साधना हो सकती है,

पर जाने हुए को सच मानना सिद्धि है !

अथवा—

तुम बोलते थे, तब तो मैं मुग्ध था

अब तुम चुप हो गये हो, तो मैं जाग कर

तुम्हारा स्वर सुनने लगा हूँ !

अथवा—

समानान्तर सूत्रों से बुनाई नहीं हो सकती—

जीवन का पट बुनने के लिए आवश्यक है कि

बहुत-से सूत्र आड़े पड़ें ।

अंतिम रचनाएँ तो इस अभिव्यंजना-प्रणाली से इतनी अधिक भरी पड़ी हैं कि उनमें काव्यात्मकता का अभाव हो गया है । कविता में गद्यात्मकता रस-निष्पत्ति में बाधक होती है । यही कारण है कि बहुत-से पाठकों को इस गद्यात्मकता के कारण आधुनिक-कविता से अरुचि हो गयी है । तुकों का बहिष्कार सीमा से अधिक कर दिया गया है । तुकों के अतिरिक्त लय का भी अभाव खटकता है । यदि तुक और लयविहीन कुछ लिखना ही है तो उसे सीधे गद्य-रूप में लिखा जा सकता है । काव्य के अन्तर्गत इस प्रकार की अभिव्यक्ति सफल नहीं हो सकती । यह अवश्य है कि कहीं-कहीं नवीन भावों की अभिव्यंजना देखकर उनमें मन रम जाय, किन्तु पूर्णरूपेण ये रचनाएँ हमें मानसिक संतोष प्रदान करने में असमर्थ ही रहती हैं । कहीं-कहीं दार्शनिकता के कारण और

आधुनिक साहित्य और कला

भी दुरुह हो गयी हैं। फिर भी इन रचनाओं में अनुभव-प्रणाली विशिष्ट रूप में मिलती है तथा उनकी अभिव्यक्ति-प्रणाली भी नवीन है।

‘अज्ञेय’ की कविता गत सबसे बड़ी विशेषता नाटकीय प्रभाव की है। काव्य-भाषा में स्थान-स्थान पर नाटकीय विधान मिलता है। विषय के अर्थबोध और भावों के चित्रण में यही नाटकीय भंगी सर्वत्र विद्यमान है। ‘अज्ञेय’ की कविता का यह मौलिक गुण है कि वे अपनी प्रत्येक प्रकार की रचना में नाटकीय छटा का दिग्दर्शन करा ही देते हैं। कविता में ये नाटकीय प्रसंग भावों की पुष्टि में सहायक ही होते हैं। इस प्रकार की नाटकीय व्यंजना-प्रणाली का हिन्दी के किसी भी कवि ने व्यवहार नहीं किया है। नाटकीय भंगिमा ‘अज्ञेय’ के काव्य में जगह-जगह संकृत हो उठी है, यथा—

किसने देखा चाँद
जिसने

उसे न चीन्हा एक अकेली आँखें,

अकेला एक अनभरा आँसू,

जीवन के इकलौते अपने दुःख का

बँधी चिरंतन आयासों से,

खुली अजाने अनायास

सीपी के भीतर का अनगढ़ मोती ?

सीपीवासी जीव, न जाने जीवित है या

स्वयं जीव की सूनी सीपी !

किन्तु नहीं संदेह कि मोती उसकी मर्म-व्यथा

का फल है—

अज्ञेय की कविता

उजली सूनी सीपी
चाँद न जिसने चीन्हा
किसने देखा चाँद !

अथवा—

अभी नहीं—क्षण भर रुक जाओ—
महफिल के सुननेवालो !
मत वंचित हो कोसो, हे
संगीत सुमन चुननेवालो !

नहीं मूक होगी यह वाणी—भंग न होगी तान—
टूट गयी यदि वीणा तो भी झनक उठेंगे प्राण !

टेकनिक सम्बन्धी इस नाटकीयता के साथ-साथ भावों की अभिव्यक्ति भी कुछ इस प्रकार से हुई है, जो एक तरह से अभारतीय है अथवा यह कहा जाय कि भारतीय जनों के लिए सर्वदा नवीन । भाव-जगत् में नयी परम्परा को जन्म देकर 'अज्ञेय' ने हिन्दी-कविता को वैभवशाली बनाया है । 'शिशिर की राका-निशा' में कवि कहता है—

वंचना है चाँदनी सित
भूठ हो आकाश का निरवधि, गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य
के अवलेप का प्रस्तार—

इधर—केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे, दर्ईमारे पेड़ !

आधुनिक साहित्य और कला

इसी प्रकार नये भाव-जगत् की प्रतिनिधि कविताओं में 'अखंड-ज्योति', 'घृणा का गान' आदि मुख्य हैं। 'उषःकाल की भव्य शान्ति' में व्यापक अनुभूति का परिचय मिलता है—

उषःकाल

अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—

मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध, अचंचल

मैं ही हूँ वह पदाक्रांत रिरियाता कुत्ता—

मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुत्ला—

मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु-भिलुक—

और, हाँ, निश्चय

मैं वह तारक-युग्म,

अपलक-द्युति, अनथक-गति, बद्ध-नियति

जो पार किये जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का।

मैं हूँ ये सब, मुझमें जीवित—

मेरे कारण अवगत—मेरे नेत्र में अस्तित्व प्राप्त !

उपर्युक्त चित्र भारतीय नहीं है, यद्यपि उसमें व्यावहारिक-दर्शन की छाया अवश्य है। व्यावहारिक-दर्शन की छाया होते हुए भी व्यक्त अनुभूति का वास्तविक मूल्य कुछ नहीं है। यहाँ प्रधानता सौंदर्य-पक्ष की है। ऐसी रचनाओं में 'अज्ञेय' सौन्दर्यवादी हो गये हैं। उनकी सौंदर्य-चेतना यौन-परिकल्पनाओं से आक्रांत है। 'अज्ञेय' जी की ऐसी धारणा है कि आज का साधारण मनुष्य यौन-वर्जनाओं का पुंज है। अतः वे उपमान यौन-प्रतीकार्थ ही अधिक रखते हैं। 'सावन-मेघ' में कवि कहता है—

अज्ञेय की कविता

धिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजो पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा ।
आह मेरा श्वास है उत्तम—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?

आगे चलकर कवि को मेघों में नारी-चित्र दिखायी देते हैं और
धरती निर्लज्ज, नंगी ! यथा—

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-सङ्गत प्रेम-क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी
जब कि सहसा तड़ित के आघात से चिर कर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक,

वाध्य देखा—

स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हई थी

कवि ब्रह्मचरि

का

नया मोड़

बंगाल के अकाल से सम्बन्धित कवि 'बच्चन' का सन् १९४३ में रचित काव्य 'बंगाल का काल' नाम से प्रकाशित हुआ है।

बंगाल के अकाल की मर्मभेदी व वज्र-हृदय को भी हिला देनेवाली करुण-घटना का प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। हिन्दी के प्रगतिशील व राष्ट्रीय कवियों के अतिरिक्त व्यक्तिवादी साहित्यकारों की लेखनी से भी इस करुण दृश्य को देखकर युग-धर्म से पूर्ण कविताएँ निःसृत हुईं। उसके मूल कारणों—ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की अमानवीयता, पूँजीवादी आर्थिक शोषण आदि पर सभी ने खुलकर प्रहार किये। 'बच्चन' की यह पुस्तक उनकी पूर्व की समस्त रचनाओं से भिन्न है। 'मधुशाला' व 'मधुबाला' के गायक का कवितागत दृष्टिकोण इस पुस्तक में बिल्कुल बदला हुआ ज्ञात होता है। 'बच्चन' अपनी स्वयं की परम्परा से इस संग्रह में बिल्कुल हट गये हैं। कवि का यह परिवर्तन निःसंदेह स्वागत करने योग्य है।

क्षेत्र नया होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक का अधिकांश भाग प्रभावहीन है। मुखमरी का चित्रण अनुभूति-शून्य है। पाठक के सम्मुख कोई करुण चित्र स्पष्ट उभरता नहीं। केवल बाह्य चित्र उपस्थित कर देने

आधुनिक साहित्य और कला

से किसी भूखे के हृदय के आन्तरिक तूफान का आभास कदापि दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। बंगाल में अकाल पड़ गया है। भूखों का दृश्य देखिये—

पड़ गया बंगाल में काल
भरी कंगालों से धरती
भरी कंकालों से धरती।
दीनता ले असंख्य अवतार
पेट खला, हाथ पसार
पाँच उँगलियाँ बाँध
मुँह दिखला
भीतर घुसी हुई आँखों से
आँसू ढार
मानव होने का सारा सम्मान विसार
घूमती नगर-नगर
बाजारों, हाटों में, दर-दर, द्वार-द्वार !

उपयुक्त पंक्तियों में भूखों का विशुद्ध बाहरी चित्रण किया गया है जिसको पढ़कर करुणा एवं दया से द्रवीभूत हो जाने की भावना उत्पन्न ही नहीं होती। बिल्कुल सीधा-सादा गद्य ! एक समाचार मात्र !

भूखों का चित्र उपस्थित कर देने के बाद बंगाल का पिछला हरा-भरा रूप याद आता है। यह याद काफी मनोवैज्ञानिक है—

वही बंगाल—

जिस पर छाये सघन घनों की
छाया में लह-लह लहराते
खेत धान के दूर-दूर तक
जहाँ कहीं भी गति नयनों की।

कवि 'बच्चन' का नया मोड़

फिर 'वही बंगाल' शब्द को पकड़ कर बंग-भूमि में उत्पन्न अनेक विद्व-विख्यात विभूतियों की नामावली गिनायी गयी है। यह वर्णन काफी विस्तार लिये हुए है। इस प्रकार का वर्णन यद्यपि असंगत नहीं है, फिर भी अपनी कोई नवीनता नहीं रखता। बंगाल के अकाल पर लिखित अन्य कविताओं का विषय भी यह प्रसंग रहा है। उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'बंग-जननी' की कुछ पंक्तियाँ दी जा सकती हैं—

मैं देकर चैतन्य भक्ति से भूल उठी थी,
रामकृष्ण को लिये गोद में फूल उठी थी,
दिया विवेकानंद, विश्व-मानव ने माना,
विद्यासागर दिया, रूढ़ियों ने भय माना;
मैंने वंकिम दिया कि खनक उठीं हथकड़ियाँ,
माँ वन्दिनि का गीत बना जागृत की घड़ियाँ।
जब सुरेन्द्र ललकार उठा माँ के आँगन में
जब अरविंद पुकार उठा विद्रोही मन में ! आदि

इसी की पुनरावृत्ति 'बच्चन' की इस रचना के आरम्भ में मिलती है।

आगे कुछ प्रभावशाली अंश अवश्य मिलते हैं। कवि कहता है कि वन्देमातरम् का सबल राष्ट्रीय गीत भी इसी भूख-ग्रस्त भूमि के कवि ने गाया। एक समय था जब यह शस्य-इयामल बंग-भूमि अपने भगाध भंडार एवं अपूर्व वैभव से सम्पन्न थी; किन्तु वही —

बंग भूमि अब
शस्य हीन है
दीन क्षीण है
चिर मलीन है !

×

×

×

आधुनिक साहित्य और कला

मरघट-सा अब रूप बनाकर
अजगर-सा अब मुँह फैलाकर
खा लेती अपनी संतान ।

अनेक अमृत-पुत्रों की जननी 'बंग-भूमि' को संबोधित कर कवि कहता है—

बोल अमर पुत्रों की जननी
अब वह तेरा मान कहाँ है ?
अब वह तेरी शान कहाँ है ?
जीने का अरमान कहाँ है ?
मरने का अभिमान कहाँ है ?

उक्त कुछ उद्धरण जन-हृदय को अवश्य छूते हैं किन्तु 'बच्चन' के इस संग्रह की सबसे बड़ी दुर्बलता अकाल के कारणों को छोड़ जाने की है । पूँजीवादी व्यवस्था अथवा ब्रिटिश-राज्य की अमानवीयता के कारण बंगाल में जो असंख्य आहुतियों की अग्नि प्रज्वलित हुई उसकी ओर जरा भी निर्देश नहीं किया गया है । कवि ने उन मरते हुए कोटि-कोटि भूखों और नंगों को बार-बार ललकार दी है कि 'कुत्तों जैसी मौत मत मरो, अपितु विद्रोह के लिए तैयार हो जाओ । केवल भिन्न-भिन्न स्थानों से चन्दा एकत्र करने से ही तुम्हारी रोटी की समस्या हल नहीं हो सकती । तुम्हें तो इसके लिए संग्राम करना है ।' आदि । इस प्रकार की भावनाएँ व्यक्त करना उत्कृष्ट अवश्य है, किन्तु दूसरी ओर क्या यह अनावश्यक न था कि कवि बंगाल के अकाल के कारणों को भी बताता और शोषण करने वाले दैत्यों पर अपनी वाणी तथा लेखनी से भीषण प्रहार करता ? एक स्थल पर जब कवि को इस बात का ख्याल आता है तो वह जरा हिम्मत करके लिखता है—

कवि 'वचन' का नया मोड़

पड़ा न सूखा
वाढ़ न आयी
और नहीं आया टिड्डी दल
किन्तु वंग है भूखा, भूखा, भूखा ?
माता के अंचल की निधियाँ
अरे लूट कर कौन ले गया ?

आगे चल कर कवि कारण बताने अथवा ढूँढने का प्रयत्न ही नहीं करता, अपितु कुछ कायरपन की भावना ही व्यक्त करता है—

हाथों पर हथकड़ी पड़ी है,
सच कहने की सजा बड़ी है,
पड़े जवानों पर हैं ताले !

कहनेवाला तो अपनी बात कह ही देता है । कहावत है—‘मारने वाले का हाथ रोका जा सकता है, कहनेवाले की जीभ नहीं रोकी जा सकती ।’ जिस प्रकार बिना विद्रोह किये बंगाल की कितनी ही जनता मर गयी, ठीक उसी प्रकार वचनजी भी इस विषय पर मौन रहना पसंद करते हैं । दोनों की विवशता में कोई अंतर नहीं ! कहना न होगा, इस प्रसंग के लिए कविता सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम है । जनता की भावनाओं को उभाड़ने के लिए इससे प्रभावशाली साधन और क्या हो सकता था ?

अधिकांश भारतवासियों के हृदय में धर्म की विकृत भावनाएँ अत्यधिक दृढ़ता से जम गयी हैं । अर्थार्थ अलौकिक चिन्तन ने उन्हें भाग्यवादी बना दिया है । वे अपनी बरबादी का वास्तविक कारण स्वयं ढूँढ़ ही नहीं सकते । वे तो भाग्य का अभिशाप समझ कर कष्ट सहने को

आधुनिक साहित्य और कला

प्रस्तुत हैं। अनेक इसी प्रकार राम का नाम रट-रट कर मर गये।
'बच्चन' ने इस भाग्यवाद के प्रति तीव्र असंतोष प्रकट किया है—

विपद-प्रस्त हो
लुधा-त्रस्त हो
चारों ओर भटकते फिरते
लस्त-पस्त हो,
ऊपर को तुम हाथ उठाते
और मनाते
बरसो राम पटापट रोटी,
क्योंकि सिखाया
क्योंकि पढ़ाया
क्योंकि रटाया तुम्हें गया है
निर्वल के बल राम।
(हाय किसी ने क्यों न सुझाया
निर्वल के बल राम नहीं हैं,
निर्वल के बल हैं दो घूँसे !)

निःसंदेह इस प्रकार के स्थल पर्याप्त शक्तिपूर्ण एवं इन्कलाबी हैं।
पूर्वजन्म, धर्म और भाग्य का सहारा लेने वालों से कवि कहता है—

इस जीवन का अर्थ न खोजो
यही कायरों का शरण-स्थल
यहीं छिपा करते हैं निर्वल
यहीं आड़ लेते हैं असफल !

कवि ने बंगाल के अकाल की फ्रांस की राज-क्रान्ति के साथ
समानता भी की है, किन्तु यह प्रसंग अधिक विस्तार लिये हुए है।

कवि 'बचन' का नया मोड़

कवि तो बंगाल का अकाल लिख रहा है, न कि फ्रांस की राज-क्रान्ति ! दोनों प्रसंगों में कोई समानता भी नहीं ।

वस्तुतः यदि देखा जाय तो कवि की इस रचना का मुख्य उद्देश्य पिछड़ी हुई जनता को जगाने का है । केवल जनता की अर्ध-सुप्त भावनाओं को उभाड़ने के लिए इस काव्य का निर्माण हुआ-सा प्रतीत होता है । साम्यवाद तथा मानवतावाद के सिद्धान्त सरल शब्दावली में, जिससे कि जन-साधारण उन्हें सरलता से समझ सकें, कवि ने लिखे हैं—

सब मनुष्य हैं एक समान,
एक विधाता की संतान,
सब आजादी के हकदार,
स्वतन्त्रता के दावेदार,
नहीं किसी को है अधिकार
करे किसी पर अत्याचार ।
इन्कलाब जिन्दावाद
अपनी रोटी, अपना राज !

इन स्थलों के अतिरिक्त पुस्तक का अधिकांश भाग उपदेशों से भरा पड़ा है । कहना न होगा कि जन-साहित्य की दृष्टि से पुस्तक का मुख्य अवश्य है किन्तु जनता की भावनाओं तक कवि की पहुँच बहुत अपूर्ण है ।

कविता की भाषा यद्यपि सरल है, लेकिन बचपनभरी है, तुक से तुक जोड़ती हुई । इस दृष्टि से इस संग्रह में पुनरावृत्ति बहुत है । यह प्रवृत्ति 'बचन' की पूर्ववर्ती कविताओं में भी बहुत है । उर्दू के रदीफ़-काफ़िए की बंदिश का यह असर है, किन्तु उसका आधिक्य अछरने

आधुनिक साहित्य और कला

लगता है । स्थल-स्थल पर अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी में अनुवाद सहित प्रयोग कवि ने किया है जो अनावश्यक प्रतीत होता । जैसे—

गॉड हेल्प्स दोज
हू हेल्प देमसेल्व्ज
राम सहायक उसके होते
जो अपने हैं स्वयं सहायक ।

एक स्थल पर कवि ने 'वरसाई' की उपमा कुमारी लड़की से दी है—

थर-थर काँप उठी वरसाई,
इस प्रकार से जैसे कोई
छुई-मुई की मृदु लतिका-सी
अक्षतयोनि अबोध कुमारी
देख बलिष्ठ किसी पट्टे को
हट्टे-कट्टे जिसके ताकत वाले गट्टे
जो कामातुर
होकर निर्भय, होकर निष्ठुर
बलात्कार करने को उसकी
ओर बढ़ा आता हो ।

इस उपमा का समावेश बंगाल के अकाल के सम्बन्ध में किया गया है । साफ़ ज़ाहिर होता है कि कवि के पास कुछ कहने को नहीं है । उसकी दृष्टि काँपती हुई अक्षत-योनि अबोध कुमारी की ओर लगी हुई है—दम तोड़ती हुई मानवता की ओर नहीं । ऐसे स्थलों से अकाल का वातावरण दूर हो जाता है । रचना में वासना की दुर्गंध आने लगती है । यह कोई आवश्यक नहीं था कि उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं

कवि 'बच्चन' का नया मोड़

के लिए ऐसे उपादान चुने जाते। अनेक स्वस्थ और प्रभावशाली उपमाएँ आदि इस प्रसंग के लिए मिल सकती थीं। 'पट्टे', 'हट्टे-कट्टे', 'गट्टे' आदि शब्द भी कानों को प्रिय नहीं लगते।

कवि 'बच्चन' ने, इसमें संदेह नहीं, प्रस्तुत काव्य में वैयक्तिक सीमाओं को लाँघ कर, सामूहिक-जीवन में प्रवेश किया है। 'बंगाल का काल' उनके कवि-विकास में एक महत्वपूर्ण कदी है।



संघर्ष के काव्य

में

प्रगतिशील-तत्त्व

आधुनिक हिन्दी-काव्य-साहित्य में 'अञ्जल' का प्रादुर्भाव एक तूफान की भाँति हुआ है। सन् १९३० से उन्होंने लिखना शुरू किया और उनका प्रथम कविता-संग्रह 'मधूलिका' १९३८ में प्रकाश में आया। तत्पश्चात् 'अपराजिता' (१९३९), 'किरण-वेला' (१९४१), 'करील' (१९४२) और 'लाल चूनरी' (१९४४) प्रकाशित हुए। 'लाल चूनरी' के बाद की कविताएँ 'नया देवता' और 'वर्षान्त के बादल' में संगृहीत हैं। 'अंचल' की कविता के संबंध में बहुत लिखा गया है। प्रशंसात्मक लेखों में, जो प्रतिष्ठित साहित्यकारों की लेखनी से लिखे गये हैं, 'अञ्जल' को शृंगारी कवि ठहराया गया है। इनमें से अधिकांशतः प्रगतिशील काव्य-धारा के विरोधी हैं और कुछ यदि विरोधी नहीं, तो प्रगतिशीलता के आन्दोलन के प्रति उदासीन जरूर हैं। उनका उद्देश्य 'अञ्जल' के शृंगारी काव्य की श्रेष्ठता प्रमाणित करना तथा उसके सौन्दर्य एवं कला-पक्षपर ही दृष्टि रखना रहा। 'अञ्जल' की कविता का यह शृंगारी रूप इन साहित्यकारों द्वारा काफी समय तक परखा जाता रहा और हिन्दी-साहित्य में उसको उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया गया। दूसरी ओर प्रगतिशील आलोचकों ने साहित्यिक पंखों द्वारा प्रशंसित 'अञ्जल' के

आधुनिक साहित्य और कला

शृंगार की छीछालेदर करनी शुरू की। उन्होंने बताया कि 'अञ्जल' का साहित्य एक विलासी, काम-भट्टस, यौन-पीड़ित व वासनायुक्त हृदय की अभिव्यक्ति है और उसकी तुलना कामशास्त्र से ही की जा सकती है ! यह 'अञ्जल' के काव्यालोचन का दूसरा पक्ष है।

इसके बाद 'अञ्जल' के काव्य में प्रतिक्रिया होती है और नूपुरों की झनकार सुननेवाला 'अंचल' समर-क्षेत्र में उतर कर शस्त्रों की खनखनाहट सुनने लगता है—एक बड़े पैमाने पर वह महाक्रान्ति का बिगुल बजाने लगता है। इस प्रकार की रचनाओं में धुआँधार अग्नि-वर्षा, प्रलय और भंसावात के चित्र मिलते हैं और इन्हीं रचनाओं द्वारा 'अंचल' प्रगतिशील कहलाये जाने लगे। प्रगतिशील आन्दोलन के साथ उनके काव्य की चर्चा होने लगी और कुछ टुटपूँजिए आलोचकों ने तो 'अञ्जल' को प्रगतिशील काव्य-साहित्य का जनक ही घोषित कर डाला। उनके मांसल व नम्र चित्रों को यथार्थवाद की चौखट में जड़ दिया। 'अञ्जल' के इस परिवर्तन को देखकर उनके पुराने स्तुतिकार आलोचक जरा रुष्ट हुए और उन्होंने कहा—“ 'अञ्जल' स्वभाव से ही नारी-प्रेमी और शुद्ध शृंगारी कवि हैं। 'शोषण' और 'शोषित' के झगड़ों से उनका हृदय बहुत दूर प्रतीत होता है। इसलिए जहाँ शृंगारी कविताएँ अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं, वहाँ प्रगतिवादी कविताओं में अस्वाभाविकता अलग दृष्टिगोचर होती है। मालूम यह होता है कि किसान और मजदूर के सुख-दुख का तो कवि को किंचित् भी अनुभव नहीं है, किन्तु केवल युग-धर्म के नाते वह उनसे कोरी बौद्धिक समवेदना-भर प्रकट कर रहा है।” और दूसरी ओर प्रगतिशील खेमे से भी आवाज आयी

१. आधुनिक कविता की भाषा, पृ० ४३३-३४ वृजकिशोर चतुर्वेदी।

‘अञ्जल’ के काव्य में प्रगतिशील-तत्त्व

कि ‘अञ्जल’ का काव्य प्रगतिशील कविता का श्रेष्ठ उदाहरण नहीं है, वह तो निरा ‘नारावादी’ और ‘क्षणवादी’ साहित्य है। उसमें अनुभूति नहीं, केवल प्रलय, संज्ञा, तूफान, इन्कलाब, महाक्रान्ति, हाहाकार आदि शब्दों से ही तो कोई रचना प्रगतिशील नहीं हो सकती। उसके लिए जन-जीवन की भावनाओं के भीतर पैठ जाने की क्षमता अनिवार्य है। ऐसी ध्वंसवादी कविताओं के समानान्तर ‘अञ्जल’ शृंगार की तानें भी छेड़ते रहे। प्रगतिशील आलोचकों ने उनके काव्य में जब यह वैषम्य देखा तो उन्हें प्रगतिशीलता के क्षेत्र से निकाल बाहर किया और आज ‘अञ्जल’ की ‘प्रगतिशीलता’ के समर्थक बहुत कम बचे हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या अञ्जल अपने को प्रगतिशील आन्दोलन के साथ नहीं समझते ? क्या उनकी नवीन रचनाओं में प्रगतिशीलता के गुणों का विकास नहीं हो रहा ? यदि हाँ, तो आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह उसको प्रकाश में लाये और अञ्जल के पुराने, नम्र, उत्तेजक व कामुक रूप को फिर उभरने न दे—जैसा कि प्रतिक्रियावादी आलोचक चाहते हैं।

‘अञ्जल’ ने छायावादी युग में लिखना शुरू किया था। छायावादी कवियों ने नारी का मांसल चित्रण नहीं किया है जिसका कारण सामाजिक है किन्तु ‘अञ्जल’ ने अपने नारी-चित्रण में किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं रखी। उन्होंने नारी को विलास की सामग्री समझा। नारी के प्रति यह वासनात्मक दृष्टिकोण ‘अञ्जल’ की प्रारम्भिक कविताओं में मिलता है, जो नयी रोमांस का प्रतीक है, यथा—

मैं अर्थ बताता द्रोह भरे यौवन का
मैं नम्र वासना की गीता उच्छृङ्खल !

आधुनिक साहित्य और कला

अथवा—

ज्यों मद्यप मदिरा को लख कर हो जाते हैं मतवाले,
वैसे आज सरस वेणी पर पागल हूँ मैं बाले !

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि के अन्तर्मन में मांसल लालसाओं की प्रधानता झलकती है। यौवनगत प्रेम, पिपासा और रूप-लालसा का प्राधान्य 'अञ्जल' की प्रारम्भिक कविताओं में ही नहीं, 'लाल चूनर' तक व्याप्त है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है, "अंचल न तो प्रीति का दूत है न केवल स्वप्नदर्शी कवि है। वह आधुनिक भरे-पूरे (Full flooded) यौवन का प्रतीक है।" अञ्जल के इस पक्ष पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हिन्दी के अनेक आलोचकों ने लिख है। जहाँ तक अंचल के प्रगतिशील पक्ष का प्रश्न है उसकी आलोचना हुई तो यथार्थ है, पर अभिप्रेत नहीं है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने अञ्जल के प्रगतिशील पक्ष पर लिखते हुए यह बताया है कि वे सत्कारों से शाश्वत भावनाओं के कवि हैं—प्रगतिशील नहीं। यथा—“हिन्दी के आलोचकों ने अञ्जल को प्रगतिशील कवि के नाम से पुकारा है। मैं तो देखता हूँ कि अञ्जल आधुनिक रूप में कहलाने वाले प्रगतिशील कवियों से बहुत भिन्न हैं। उनमें मूलतः वे ही प्रेरणाएँ हैं जो स्थायी कवित्व वाले कवि में होती हैं और जिनमें सौन्दर्यान्वेषण की, ललित सृष्टि की, प्रेम और घृणा के शाश्वत भावों की मात्रा यथेष्ट रूप से वर्तमान है। युगकालीन संस्कार भले ही अंचल से दो-चार कविताएँ आधुनिक प्रगतिशीलता की लिखा लें तथापि इन कविताओं में अञ्जल की आत्मा उस गहराई से अपने को स्पष्ट नहीं करती जिस गहराई से वह प्रकृति या मानवीय सुख और दुःख में प्रकट होती है।” (देशदूत, १ जुलाई १९४५)

वास्तव में 'अञ्जल' जीवन की प्रत्येक गति, समाज की प्रत्येक क्रिया

‘अञ्जल’ के काव्य में प्रगतिशील तत्त्व

को कविता का विषय मानते हैं। कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक अनुभव—वर्गगत और जातिगत जीवन की कोई भी झलक—कोई भी भावात्मक प्रेरणा कविता से परे नहीं है। कविता जीवन की सुन्दरताओं और कुरूपताओं का रसात्मक माध्यम से उद्घाटन करती है। शर्त केवल यह है कि अभिव्यक्ति का स्तर कहीं ओछा न पड़ने पाये। कविता में वैयक्तिक अनुभव और सामाजिक या जातीय अनुभव—ये दो भेद हैं। अनुभूति की उच्चभूमि पर पहुँच कर दोनों का अंगभूत समन्वय हो जाता है। ‘अञ्जल’ की कितनी ही कविताओं में यह हुआ भी है। कविता केवल अपनी अभिव्यक्ति की प्रेरणा की पूर्ति का साधन नहीं, वह सामाजिक आयोजनों और बदलती हुई जीवन-स्थितियों को बल पहुँचाने का एक सशक्त साधन भी है। अपनी प्रेक्षणीयता की क्षमता के कारण कविता के द्वारा कवि के सामाजिक अनुभवों और संदेशों का प्रसार अधिक तीव्रता से हो सकता है। कविता में केवल विचार और स्थूल मतवादी मान्यताएँ देने से काम नहीं चलता। उसमें कवि की आन्तरिक समन्वयता भी आनी चाहिये।

‘अञ्जल’ ने इधर रूप और सामग्री दोनों को लेकर तरह-तरह के प्रयोग किये हैं। आज के प्रयोग केवल रूप को लेकर हो रहे हैं। सामाजिक अन्तरस्थ की ओर कम ध्यान दिया जाता है। प्रयोगवाद एक फैशन-सा बन गया है। ‘अञ्जल’ की ‘रोती हो’, ‘दोपहर की बात’, ‘वह मजदूर की अधी लड़की’, ‘दावन’, ‘मानव की राह’, ‘नारी’, ‘शाम को’, ‘वर्षान्त के बादल’, ‘कुभार की संध्या’, ‘प्रलय-रात’, ‘अंधियारी’, ‘नवयुग की दीवारें’, ‘नहीं जलेगी’, ‘अलविदा’ आदि कविताएँ, जो मुक्त छन्द में लिखी गयी हैं, रूप और सामग्री की दृष्टि से सशक्त हैं। इन कविताओं में काव्यगत नये प्रतीकों, सौन्दर्य-मूल्यों और नयी कल्पनाओं को प्रश्रय मिला है।

आधुनिक साहित्य और कला

‘अञ्जल’ जीवन में संघर्ष और कर्म की प्रधानता मानते हैं, यथा—
जो अडिग रहता अड़ा तूफान में बरसात में,
टूट जाना है वही तारा शरद की रात में;
मुक्त जीवन की प्रगति भी द्वन्द्व में संघात में,
फूल काँटों में खिला था सेज पर मुरझा गया !

यह ‘अञ्जल’ का जीवन-दर्शन है। जीवन और समाज दोनों को वे एक गतिशील शक्ति मानते हैं। दोनों के गुणात्मक परिवर्तन पर उन्हें विश्वास है। अपने कर्मपथ पर उन्हें थकान या निराशा नहीं होती—

तुम्हें ज्ञात मेरे जीवन का एक लक्ष्य है, एक तराना,
पथ के अवरोधों को मैंने अब तक अपराजेय न माना !

कवि का यह स्वस्थ जीवन-दर्शन निश्चय ही उसे प्रगतिपथ पर खिये जा रहा है। ‘अञ्जल’ के काव्य में प्रगतिशील तत्त्व धीरे-धीरे विकसित हो रहे हैं। आज की दुनिया में व्याप्त वैषम्य-भावना के प्रति तीव्र असंतोष ‘अञ्जल’ के काव्य में सशक्त स्वर में व्यक्त हुआ है। वर्तमान पूँजीवादी समाज के विरोध में वे इन्कलाब का आह्वान करते हैं। दुनिया को बदलने का हृदयसंकल्प ‘अन्तर्वाला’ कविता में देखिये—

मानवता के चात्कारों में भर दो आज प्रलय का पानी,
आज वेदना के रव-रव में बिन्दु-बिन्दु की बने कहानी।
परिवर्तन से ही मिटने का व्यंग असमता को जो छाया,
आज यहाँ शोषण की सत्ता जो बस महलों का सरमाया,
आज हमें फिर इन्कलाब के इंगित पर आँधी-सा चलना
आज हमें दानवता से संचालित यह संसार बदलना !

आज चारों ओर जन-जीवन में एक खलबली मची हुई है। मनुष्य ने वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परम्पराओं के विरुद्ध

‘अञ्जल’ के काव्य में प्रगतिशील तत्त्व

युद्ध की घोषणा कर दी है। नये युग की सुखदायी कल्पना ने उसकी शक्ति को चौगुना कर दिया है। ‘अञ्जल’ ने इस धड़कन का मात्र अनुभव ही नहीं किया, वरन् वह उसका एक अंग भी बने हैं। ‘मैं निरन्तर लड़ रहा हूँ !’ मैं वह कहते हैं—

जब नयी वीणा नये युग की नयी भंकार करती,
जब नयी ज्वाला नये अलोक के अंगार भरती,
मैं निरन्तर लुब्ध गति से राह पर आगे बढ़ा हूँ,
कूदकर कठिनाइयों की चांटियों पर मैं चढ़ा हूँ !

दलित-उत्पीड़ित मनुज से बड़े विश्वास के साथ वे कहते हैं—

आ, चला आ साथ, इस गतिशील युग के
है यही वह मार्ग, तू अब जान ले।
कर अडिग विश्वास अणु-अणु से इसे पहचान ले,
है हमें चलना कि जिसपर; हमें ही क्यों
विश्व को—इतिहास को—भविष्य को, नव शक्तियों को,
है यही वह मार्ग जो जन-एकता की पारदर्शी ज्योति देता।

पूँजीवादी व्यवस्थाजन्य भूख, गरीबी और यातनाओं का विशद चित्रण ‘अञ्जल’ ने किया है। नारी के प्रति उनका जो दृष्टिकोण पहले था, वह अब वास्तविक जीवन की अनुभूतियों में परिवर्तित हो गया है। वर्तमान भारत के अधिकांश परिवारों की वेदना कहीं-कहीं बड़ी सजीव हो उठी है, जैसे—

और वही परिवार खड़ा है, भूखे शिशु, अकुलाती माता,
चलता जन्म-दिवस से मरने तक जिनका तृष्णा से नाता।
जैसे भूख खड़ी होकर साकार हुई जाती मिचलाती,
बुझती सारी रात नहीं, अधजली लाश रह-रह धुँधुँआती।

‘अञ्चल’ के काव्य में प्रगतिशील तत्त्व

समग्र प्रगतिशील काव्य-धारा के अन्तर्गत विभिन्न रूपों में व्यक्त हुई है और हो रही है। केवल अभिव्यक्ति-भेद है। प्रगतिशील कविता के उत्कृष्ट उदाहरण भले ही अञ्चल के काव्य में अधिक न हों, पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अञ्चल आज उसी पथ के राही हैं। यदि अञ्चल का अन्य प्रगतिशील कवियों से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो उनके काव्य में प्रगतिशील कविता में पाये जानेवाले जैसे मर्मस्पर्शी स्थल कम ही मिलेंगे। प्रगतिशील-काव्य की जो लठान केदार, त्रिलोचन, गिरजाकुमार माथुर, शिवमंगलसिंह ‘सुमन’, नागार्जुन आदि की रचनाओं में मिलती है, वह अञ्चल के काव्य में नहीं है। अञ्चल की दृष्टि नये विषयों और नये रूप विधानों की ओर गयी अवश्य है, पर अभी उसका पूर्ण विकास नहीं हुआ है। उनके तुलान्त काव्य में एक रसता है और अतुल्य रचनाओं में वैविध्य होते हुए भी अभी निखार नहीं आ पाया है। ‘अञ्चल’ ने जो राह पकड़ी है वह उनके लिये नयी है—अपरिचित-सी। जिसका परिणाम यह होता है कि उनके काव्य में कहीं-कहीं संशयात्मकता आ जाती है। ध्येयहीन पथिक की भाँति वे कहते हैं—

हैं स्वप्न अभी सब जिसके पीछे बलिदानों की धारा,
जाने कैसा होगा अंतिम संघर्ष-हितों का निपटारा।

जो चीज दिन-पर-दिन अपने मूर्त रूप में स्पष्ट से स्पष्टतर होती जा रही है उसे स्वप्न कहना और अंतिम निर्णय के प्रति अनिश्चित विचारों को हृदय में स्थान देना संघर्षकालीन कवि के लिए एक अनुचित बात है। संघर्ष के समय प्रेम-गीत गाना बुरा नहीं है—बुरा तभी होता है जब कवि उन प्रेम-गीतों के द्वारा संघर्ष को दुर्बल बनाये अथवा जनता का ध्यान उससे विलग करने का प्रयत्न करे। थके और घायल जीवन को

आधुनिक साहित्य और कला

फिर से तरोताजा करने के लिए यदि एक-आध सरस गीत गा लिये जाते हैं तो वे प्रेरक ही होते हैं—गतिरोधी नहीं। लेकिन अपने उद्देश्य के प्रति अविश्वास को स्थान देना बड़ी घातक प्रवृत्ति है। अलक्ष के काव्य में यदि और शक्ति आयेगी, यदि उनकी अभिव्यक्ति-कला में और स्पष्टता, चित्रात्मकता आदि का समावेश होगा तो निश्चय ही वे जन-जीवन का उचित प्रतिनिधित्व कर सकेंगे।



‘तितली’

में

जयशंकरप्रसाद

‘तितली’ सामाजिक उपन्यास है। ‘प्रसाद’ ने अपनी इस कृति में हिन्दू-जाति में पायी जानेवाली सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या पर प्रकाश डाला है। आदि से अंत तक कुटुम्ब की मानसिक हलचलों से उपन्यास भरा हुआ है। ‘भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की-कदियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा जिसमें कुल का एक प्रमुख व्यक्ति सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था। आज प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदाई हो रहा है।’ इंद्रदेव और मधुबन की गृहस्थी की विश्रंखलता यद्यपि उपन्यास का प्रधान विषय है, किन्तु जयशंकरप्रसाद अपनी स्वाभाविक वृत्ति के कारण उसका अन्त आदर्शात्मक ही करते हैं। इंद्रदेव को, जिनके मन पर पाश्चात्य संस्कारों का प्रभाव पड़ा हुआ है और जिन्हें सम्मिलित कुटुम्ब के प्रति घृणा है, वह अन्त में कृत्रिम दिखायी देने लगती है, ‘क्योंकि धामपुर अब स्वर्ग बन गया था। वहाँ रामजस, मलिया, राजो, तितली और उसके साथ कई अनाथ प्राणी स्वेच्छा से एक नया कुटुम्ब बनाकर सुखी हो रहे थे।’

आधुनिक साहित्य और कला

कौटुम्बिक समस्या से सम्बन्धित आर्थिक समस्या भी उपन्यास में मिलती है। 'समस्याएँ तो जीवन में बहुत-सी रहती हैं, किन्तु वे दूसरों के स्वार्थों और रुचि तथा कुरुचि के द्वारा कभी-कभी जैसे सजीव होकर जीवन के साथ लड़ने के लिए कमर कसे हुए दिखायी पड़ती हैं। 'मनुष्य मनुष्य के सुख-दुख से सौदा करने लगता है और उसका मापदंड बन जाता है रुपया। धन-लिप्सा के कारण मानव-हृदय कृत्रिम को ही वास्तविक बनाने की चेष्टा करता है।' इसी धन-लिप्सा के कारण उपन्यास के माधुरी, राजकुमारी, तहसीलदार, मैना आदि अनेक पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व प्रखर हो उठा है। जमींदारों के अत्याचार और गरीबी का नग्न चित्रण प्रसाद की लेखनी से इतना सजीव हुआ है कि हम इस आर्थिक प्रश्न पर विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं। रामजस कहता है— "आजकल क्या, सभी युगों में लक्ष्मी का बोलबाला था। भगवान भी इसी के संकेतों पर नाचते हैं। मैं तुम्हारे इस झूठे पापपुण्य की दुहाई नहीं मानता।" और आगे चलकर कामुक महश्त जब हमारे सामने आते हैं तब इसी धर्म का सारा खोखलापन प्रकट हो जाता है। 'प्रसाद' अपने उद्देश्य को निभाने में सफल हुए हैं।

उपन्यास की कथावस्तु स्वाभाविक गति से विकसित हुई है। यद्यपि कहानी कल्पित है, फिर भी उपन्यासकार उसे पाठकों के सम्मुख सत्य घटना के रूप में उपस्थित करने में सफल हुआ है। कथा निम्न-लिखित दो धाराओं में विभक्त है—इंद्रदेव व शैला और मधुबन व तितली। कथा की भावी घटनाओं का निर्माण करने में वृद्ध रामनाथ और रामजस का बहुत बड़ा हाथ है। रामनाथ अपने आत्मिक बल और क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा मधुबन का विवाह तितली से कराने में समर्थ होता है और एक नयी गृहस्थी बसती है। शैला को हिन्दू-धर्म की दीक्षा देकर

‘तितली’ में जयशंकरप्रसाद

वह इंद्रदेव के परिवार में फैले विरोध को हलका करता है। रामजस अपनी स्वाभाविक उग्र प्रवृत्ति के कारण सुखदेव चौबे को पीट बैठता है और उसका यह कार्य भावी विपत्तियों एवं समस्याओं का कारण बनता है।

पूरे उपन्यास में नयी और पुरानी विचारधारा का संघर्ष है। श्याम-दुलारी, माधुरी, राजकुमारी आदि पात्र अपने-अपने प्राचीन संस्कारों में बद्ध हैं। तितली, शैला, इंद्रदेव, रामनाथ, मधुबन आदि प्राचीन विकृत परम्पराओं को तोड़ने में व्यस्त दिखायी देते हैं। शैला के पाश्चात्य संस्कार भारतीय वातावरण में रहने के कारण बदल तो जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव पूर्णरूप से नहीं मिटता। अन्त में रामनाथ द्वारा बताये स्वस्थ भारतीय दर्शन से ही उसे मार्ग मिलता है। ‘प्रसाद की भारतीय संस्कृति में अटल आस्था है और अन्त में वे उसी की विजय बताते हैं।

उपन्यास में देहात का मुक्त आकाश दिखायी पड़ता है। ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। मछाहों और नौकरों के जीवन व उनकी आर्थिक और मानसिक दशा के बड़े सजीव और प्रभावोत्पादक वर्णन ने कथा में जान डाल दी है। कहानी की अधिकांश घटनाएँ धामपुर की छावनी, बजरिया और शेरकोट गाँव में ही घटती हैं। अंत में कलकत्ता और बनारस जैसे बड़े नगरों में कथा का आकर्षण केन्द्रित हो जाता है।

उपन्यास की घटनाओं का समय अकाल का है। ‘सब धीरे-धीरे दम तोड़ रहे हैं। ग्रामों की यह दशा है कि ऊसर-धरती भी कहीं चरने के लिए नहीं बची है। पेड़ों की पत्तियाँ तक खा डाली गयी हैं। टिड्डियाँ भी इस तरह उन पत्तियों को नहीं खा सकतीं, वे छाल तो छोड़ ही देती हैं।’ काल की भीषणता के कारण निर्धन पात्रों को अच्छे दिन

आधुनिक साहित्य और कला

याद आते हैं। परन्तु वे जीवन की विषम स्थितियों से जूझते रहते हैं। साधारण किसानों के अतिरिक्त मधुवन के परिवार की आर्थिक दशा सबसे अधिक शोचनीय है। उसकी बहन राजकुमारी का इसी कारण महन्त के द्वारा अपमान होता है। राजी, मधुवन, रामनाथ सभी अपनी पुरानी गौरव गाथाएँ स्मरण करते हैं और दुखी होते हैं। यदि एक ओर धन का नितान्त अभाव है तो दूसरी ओर जमींदार और महन्त के पास रुपया पानी की तरह बहाने के लिए है। एक ओर टूटी-फूटी भोपड़ियाँ हैं तो दूसरी ओर बड़ी-बड़ी कोठियाँ, जहाँ चारों ओर ऊँचे-ऊँचे खम्भों पर लम्बे-चौड़े दालान, जिनमें सटे हुए सुन्दर कमरों में सुखासन, उजली सेज, सुन्दर लैम्प, बड़े-बड़े शीशे, टेबिल पर फूलदान, अलमारियों में सुनहली जिल्दों से मढ़ी हुई पुस्तकें बिखरी हुई हैं।

पात्रों में शैला, इंद्रदेव, तितली और मधुवन मुख्य पात्र हैं जिनका चरित्र-चित्रण विस्तार से किया गया है। धूर्त पात्रों में महन्त, तहसीलदार, मिस अनवरी, श्यामलाल, मैना और सुखदेव चौबे हैं। उपन्यासकार इन पात्रों में से तहसीलदार, महन्त, सुखदेव चौबे और मैना को हाथी के नीचे मरवा डालता है और उन्हें उपन्यास से ही उठा देता है। रामनाथ भी उपन्यास के मध्य से वैराग्य धारण करके चले जाते हैं और फिर नहीं लौटते। शैला के पिता को भयानक प्रकट करने में कुछ अस्वाभाविकता मिलती है। मि० वाटसन और कृष्णमोहन का समावेश अनावश्यक-सा है। मिस अनवरी, श्यामलाल और माधुरी की जीवन-गाथा उलझी ही रह जाती है। इंद्रदेव की माँ श्यामदुलारी के जीवन का भी बीमारी के कारण अंत करवा दिया जाता है। पात्रों की संख्या काफी है। सभी पात्रों का निर्वाह उचित ढंग से लेखक नहीं कर सका है।

‘तितली’ में जयशंकरप्रसाद

तितली उपन्यास की नायिका है। भयानक भकाल की भग्निक्रीड़ा में खेलती हुई उसे वृद्ध रामनाथ ने पाया था। देवनन्दन—जो कि उसका पिता था—उसे छोटी उम्र में ही रामनाथ के हाथों सौंपकर इस संसार से चल बसा। तितली, जिसका घरेलू पुकारने का नाम बज्जों है, सर्वप्रथम हमें एक दरिद्र कुटीर में दिखायी देती है। यद्यपि उसके शरीर पर यौवन उभरने लगा है, फिर भी उसका मन दूध का धोया है। उसे लड़की कहना ही अधिक संगत होगा। उपन्यास के प्रारम्भ में तितली का बड़ा ही भोला रूप हमारे सामने आता है।

तितली एक सुन्दर कृपक बालिका है। ‘उसकी काली रजनी-सी उनींड़ी आँखें सदैव कोई गंभीर स्वप्न देखती रहती हैं। उसका लम्बा छरहरा अंग, गोरी पतली उँगलियाँ, उन्नत ललाट, कुछ खिंची हुई भौंहें और छोटे-से पतले-पतले अधरोंवाले मुख का सौन्दर्य धामपुर शेरकोट व बज्जरिया में बेजोड़ है। कृपक बालिका होते हुए भी वह राजा की लड़की-सी लगती है। जमींदार इन्द्रदेव के विवाह के लिए उसके समान सुन्दर लड़की अन्य नहीं मिलती। तितली के स्वरूप और स्वभाव को देखकर प्रत्येक व्यक्ति मोहित हो जाता है।’ शैला ने कहा भी है—“तुमको जो देखेगा, वही प्यार करेगा।”

प्रेमिका के रूप में तितली बड़ी कोमल, संयत और मधुर दिखायी देती है। प्रारम्भ में वह मधुवा को छेड़ती है। मधुबन कहकर पुकारती है। मधुबन के कहने पर, ‘अच्छा, फिर आज से मैं रहा मधुबन और तुम तितली।’ दोनों की आँखें एक क्षण स्नेह के आदान-प्रदान के लिए मिल जाती हैं। तितली अपने हृदय पर मधुबन का अधिकार कर देती है। वे एक—दूसरे को हृदय से प्यार करते हैं और रामनाथ के

आधुनिक साहित्य और कला

प्रयत्न से रुकावटों के होते हुए भी दोनों का विवाह हो जाता है। तितली के प्रेम की यह बहुत बड़ी विजय है।

तितली ने रामनाथ से तेजस्विता का पाठ पढ़ा है। वह विपत्तियों में धैर्य और साहस से काम लेनेवाली रमणी है। मलिया को घर में रखने का और व्यभिचार की संतानों की रक्षा करने का साहस उसी में है। विरोध से वह घबराती नहीं है। संकटों में घिरी होते हुए भी हम उसे कभी दुःखी नहीं देखते। वह ऐसे समय में उपकारों का बोझ नहीं लेना चाहती। बिना किसी की सहायता के समस्याओं का सामना करती है। इंद्रदेव तक से सहायता नहीं लेती और बिना कुछ कहे-सुने बनारस से वापस लौट आती है। कड़े और अँगूठी बेचकर अपना काम चलाती है। कन्या पाठशाला खोल कर अध्यापिका के रूप में उसका आना उसकी उज्ज्वलता और कर्मण्यता में चार चाँद लगा देता है।

तितली का नारी हृदय मधुवन के विरह और याद में तड़पता है। उसकी साधना है—‘मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा और जो कुछ वे छोड़ गये हैं उसे संहालकर उनके सामने रख देना होगा।’ और हम देखते हैं कि आगे चलकर तितली माँ बनती है। उसकी साधना निष्फल नहीं जाती। वह भीषण संसार से तब तक लड़ती है जबतक मधुवन लौटकर नहीं आ जाता।

निःसंदेह तितली एक महिमामयी व गरिमामयी नारी है। उसकी सादगी, स्वावलम्बन और सेवा की वृत्ति अन्यत्र दुर्लभ है। योग्यता में भी वह कम नहीं है। प्रतिवाद करने में चतुर है। अध्ययन की भी उसमें कभी नहीं। सब प्रकार से साधन-सम्पन्न और योग्य शैला को उसके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अन्त में तितली

‘तितली’ में जयशंकरप्रसाद

जीवन-यज्ञ में से सफलता के साथ निकलकर सुख और गौरव से अपना जीवन व्यतीत करती है ।

नारी पात्रों में शैला का स्थान दूसरा है । शैला भारत के एक नील व्यवसायी स्मिथ की कन्या है । उसकी माँ जेन अपने पति के भ्रष्टाचारों और आर्थिक संकट के कारण जीवन-लीला समाप्त कर चुकी है । पिता जेल में बंद कर दिया जाता है । शैला लंदन नगर के उन लोगों की टोली में जिन्हें लोग बदमाश, गिरहकट व आवासे समझते हैं, जा मिलती है और भीख माँग कर अपने दिन काटती है । जब इंद्रदेव सर्वप्रथम शैला को देखते हैं तब वे परिचारिका के रूप में अपने मेस में उसे रख लेते हैं । इंग्लैण्ड में इंद्रदेव का सारा प्रबन्ध शैला ही करती रही । जब इंद्रदेव बैरिस्टरी पास करके भारत लौटते हैं तब शैला को भी अपने साथ ले आते हैं ।

शैला भारतीयों के साथ बैठकर प्रायः भारत के देहात, पहाड़ी तथा प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में इंद्रदेव से कुतूहलपूर्ण प्रश्न किया करती है और भारत के बारे में बहुत-सी जानकारी उसने पहले से ही प्राप्त कर ली है । वह अच्छी हिन्दी भी बोलने लगी है । साड़ी पहनने का उसने अभ्यास कर लिया है ।

‘शैला गोरी, सुन्दर, लम्बी-सी, पतली-दुबली, लक्ष्मी-सी स्त्री है । कुशल शिल्पी के हाथों से बनी हुई संगमरमर की सौन्दर्य प्रतिमा-सी वह बड़ी भली मालूम देती है ।’ शैला निःसंदेह एक सुशील लड़की व सामने घुसती हुई चली जानेवाली सरल और साहसमयी युवती है । सहनशीलता की भी उसमें कमी नहीं । यद्यपि पहले उसे भारतीय वायुमंडल का पूरा ज्ञान नहीं था, किन्तु बाद में वह अपनी लगन और योग्यता के कारण चतुर भारतीय गृहणी बन जाती है ।

आधुनिक साहित्य और कला

इंद्रदेव के समीप आने के लिए, क्योंकि वह इंद्रदेव को प्यार करती है—भारतीय संस्कृति का अध्ययन करना प्रारम्भ कर देती है। बाबा रामनाथ से वह हितोपदेश पढ़ती है, संस्कृत सीखती है। यहाँ तक कि अंत में हिन्दू-धर्म को दीक्षा लेकर वह भारतीय संस्कृति में घुलमिल जाती है। इंद्रदेव के संसर्ग से उसने यह सीखा है—‘दूसरे मुझको क्या कहते हैं, इसपर इतना ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। पहले मुझे ही अपने विषय में सच्ची जानकारी होनी चाहिये।’ शैला का अभावपूर्ण जीवन इंद्रदेव की कृतज्ञता में आबद्ध और संतुष्ट था, किन्तु फिर भी वह कर्मक्षेत्र में उतरती है। किसानों का एक बैंक और होमियो-पैथी का निःशुल्क औषधालय खोलने का काम, गाँव के स्कूल को और उन्नत करने का प्रयत्न एवं गृहशिल्प को प्रोत्साहन देने की योजना वह तैयार करती है। अनेक बाधाओं के होते हुए भी काम में जुट जाती है। शैला यद्यपि इंद्रदेव के दान पर ही जी रही है और उनसे दान लेने में उसे कोई संकोच भी नहीं है फिर भी उसके जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वावलम्बन पर खड़ा होना चाहिये। इसीसे वह ग्राम-सुधार में प्रवृत्त हो जाती है और बड़ी तत्परता से ग्राम का संघटन करती है।

शैला स्वभाव से बड़ी दयालु है। उसको दयालुता से गाँव के सभी लोग भली-भाँति परिचित हैं। देहाती लोगों से बातचीत करने में शैला को सुख ही नहीं मिलता, वरन् वह उनके पास जीवन का सच्चा स्वरूप देखती है जिसमें ठोस मेहनत, अटूट विश्वास और संतोष से भरी शांति हँसती खेड़ती है। उसका हृदय इतना कोमल है कि वह सुखार्थ का मरना तक नहीं देख सकती। वह कहती है—“आह ! कितने निधड़क ! वे गंगा किनारे टहल रहे थे। मैं आज ही इंद्रदेव को शिकार खेलने से रोकूँगी।” अपने सरल स्वभाव के कारण वह इंद्रदेव की माँ इयामदुलारी

‘तितली’ में जयशंकरप्रसाद

के हृदय में बड़ी सरलता से स्थान बना लेती है। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति की हम उसे सहायता करते देखते हैं। माधुरी, जो उससे घृणा करती है, को भी शैला की सहानुभूति, परामर्श और सहायता की आवश्यकता पड़ती है।

तितली के कार्य क्षेत्र को देखते हुए यद्यपि शैला को उसकी अपेक्षा अधिक सफलता नहीं मिली है, किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि वह अपने ‘मिशन’ में वह कहीं भी असफल नहीं हुई। कर्मण्य जीवन भले ही विजयी न हो किन्तु पराजित कभी भी नहीं होता।

युवक पात्रों में इंद्रदेव और मधुबन हमारे सामने मुख्य रूप से आते हैं। मधुबन उपन्यास का नायक है। उसका जीवन सतत संघर्षमय है। इंद्रदेव धामपुर के युवक जमींदार हैं। आप धनी के पुत्र हैं। बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् बैरिस्टरी के लिए विलायत जाते हैं। विलायत में रहकर इंद्रदेव पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में आते हैं और अपनी निर्भीकता एवं उदारता के कारण भिखारिन शैला को अपने यहाँ रख लेते हैं। बैरिस्टरी पास करने के उपरान्त वे शैला सहित बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ लेकर भारत लौटते हैं किन्तु इंद्रदेव की अभिलाषाएँ पूरी नहीं होतीं। वे अपने ही वातावरण में घिरे बेवस दिखायी देते हैं। पूरे उपन्यास में इंद्रदेव मानसिक हलचलों से ग्रस्त हैं। उनका कौटुम्बिक जीवन बहुत ही दयनीय है। इसी कारण वे सदैव चिंतित रहते हैं। अंग्रेज महिला शैला का उनके साथ आना उनके परिवार में उथल-पुथल मचा देता है। प्राचीन संस्कारों में बद्ध इंद्रदेव का परिवार यह कभी भी सहन नहीं कर सकता कि उनका एक व्यक्ति किसी प्रेमिका के साथ रहे या अंग्रेज रमणी से विवाह करे।

आधुनिक साहित्य और कला

उनकी माँ श्यामदुलारी और बहन माधुरी की दृष्टि में इन्द्रदेव बिगड़े हुए युवक के समान हैं। वे उन्हें सुधारने के लिए छावनी में आकर रहती हैं। इन्द्रदेव यह सब देखते हैं और दुखी होते हैं। उन्हें अपनी माँ और बहन की यह संकीर्ण बुद्धि अच्छी नहीं लगती। इन्द्रदेव की दृष्टि से इसलिए और बढ़न लगती है कि उनके कुटुम्ब वाले शैला को वेदया से अधिक समझने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में उनके सामने दोनों को अपने परिवार को और शैला को—संतुष्ट रखने का प्रश्न आता है। इस प्रश्न को हल करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। वे अपने कुटुम्बवालों से प्रत्यक्ष न तो इस संबंध में बात ही कर सकते हैं और न कोई संघर्ष ही। उनकी भावनाएँ भीतर ही भीतर दब-सी जाती हैं और वे कहते हैं—‘मैं किसी माली की सँकरी क्यारी का कोई छोटा-सा पौधा होना बुरा नहीं समझता; किन्तु किसी की मुट्ठी में गुच्छे का कोई सुन्धिगत फूल नहीं बनना चाहता।’ वे स्वतन्त्रता के लिए छटपटाते हैं। स्वयं अपने बनाये बंधन को तोड़ने के लिए उद्दिष्ट हो उठते हैं। पुरुष होते हुए भी हम इन्द्रदेव को एक निरीह, बेवस एवं किंकर्तव्यविमूढ़-सा देखते हैं।

शैला के प्रति भी इन्द्रदेव की भावनाएँ कुंठित रहती हैं। वे शैला को प्यार करते हैं और निःसंदेह उसे अपनी पत्नी के रूप में देखना भी चाहते हैं, किन्तु उनके मन में साहस नहीं होता क्योंकि उन्हें डर है कि कहीं शैला यह न समझे कि वे उसके ऊपर अपने उपकारों का बोझ डालकर बदले के रूप में यह सब चाहते हैं। अतः अपने प्रेम को वे कभी भी स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं कर सके। जब शैला अपने उपास्य के चित्र की बात करती है तब इन्द्रदेव चिंता में पड़ जाते हैं और समझ नहीं पाते कि शैला का उपास्यदेव कौन है। शैला उनके जीवन में ऐसी

‘तितली’ में जयशंकरप्रसाद

घुल-मिल गयी है कि उनकी समस्त क्रियाएँ शैला को प्रसन्न करने के लिए ही होती हैं। इन्द्रदेव के कथनानुसार ‘मिस की प्रसन्नता के लिए उनके उत्साह में भाग लेना मेरे लिए आदर की बात है।’ शैला के जीवन में जब वासुदेव का प्रवेश होता है तब इन्द्रदेव को यद्यपि बुरा लगता है, और यह बुरा लगना स्वाभाविक भी है, फिर भी वे शैला की प्रसन्नता के लिए अपने प्रेम का भी बलिदान कर सकते हैं। इन्द्रदेव के ये शब्द—‘मैं स्वार्थी नहीं हूँ शैला, तुम जिसमें सुखी रह सको....’ उनके वास्तविक और सच्चे प्रेम को प्रकट करते हैं। अंत में दोनों का विवाह इस प्रेम की ग्रन्थि को और भी दृढ़ कर देता है।

इन्द्रदेव यद्यपि धनी हैं किन्तु उन्हें धन से मोह नहीं है। A child always revolts against his father के अनुसार इन्द्रदेव में धन के प्रति विरक्ति-भावना मिळती है। वे अपने समस्त अधिकार और सम्पत्ति माँ को दे देते हैं। ऐश्वर्य का आवरण दूर फेंक कर श्रमजीवी बन जाते हैं। बनारस में बैरिस्टरी करते हैं। शैला से जैसा वे कहते हैं—“अभी मेरी बैरिस्टरी अच्छी तरह नहीं चलती, तो भी इन कई महीनों में सादगी से जीवन निर्वाह करने के लिये मैं रुपये जुग लेता हूँ। मुझे सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है शैला !” सम्पत्ति के प्रति विरक्ति-भावना मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ कुछ पारिवारिक भी है। इन्द्रदेव का सरल मन साम्पत्तिक झगड़ों से दूर रहना चाहता है। उन्हें। नुष्य की निम्न-वृत्तियों से उलझना अच्छा नहीं लगता। जीवन के गंधर्व से वे घबराते नहीं हैं, किन्तु अपना समय और शांति निरर्थक। गढ़ों में नष्ट करना पसन्द नहीं करते। यही कारण है कि वे परिवार और सम्पत्ति के अधिकारों को छोड़कर बनारस में स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने चले जाते हैं।

आधुनिक साहित्य और कला

अतः इन्द्रदेव एक स्वाभिमानी, योग्य शिक्षित एवं संयत मनोवृत्ति के युवक के रूप में उपन्यास में चित्रित किये गये हैं ।

भाषा-शैली की दृष्टि से जयशंकर 'प्रसाद' अपने इस उपन्यास में नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं । शब्द-चयन सरल और प्रचलित हैं । वाक्य छोटे-छोटे हैं । भाषा की क्लिष्टता के आगे भाव और विचार दबे नहीं हैं । भाषा एवं काव्यात्मक गद्यांश कथा के प्रवाह को शिथिल नहीं करते । इससे संदेह नहीं, 'प्रसाद' क्या भाषा और क्या विचारधारा-दोनों ही दृष्टि से—तितली में 'प्रगतिशील' हैं । ग्राम-जीवन, किसानों की दुर्दशा, धर्म-पाखण्ड आदि विषयों पर इतना प्रखर और स्वस्थ वर्णन किया है कि वह आज के सर्वहारा-वर्ग के लेखकों का ध्यान बिना आकर्षित किये नहीं रह सकता । 'प्रसाद' के साहित्य में यदि एक ओर प्राचीनता, अतीत गौरव, आदर्शात्मकता, बोक्षिल दार्शनिकता, नियति भावना, पराजय एवं निराशा के भाव और पलायन की वृत्ति है तो दूसरी ओर नवीनता, यथार्थता एवं अन्य प्रगतिशील तत्त्व भी पाये जाते हैं । 'तितली' इसका ज्वलन्त उदाहरण है ।



‘बीज’

‘बीज’ अमृतराय का प्रथम प्रकाशित, पाँच-सौ-सत्ताइस पृष्ठों का सामाजिक उपन्यास है। अमृतराय केवल अपने इस एक उपन्यास से ही हिंदी उपन्यास साहित्य में विशिष्ट स्थान बना लेते हैं। वर्तमान-युग उपन्यासों का युग कहा जाता है। एतदर्थ इस बीच सैकड़ों छोटे बड़े उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, किंतु प्रायः सभी में व्यावसायिकता को प्रधानता दी गयी है। व्यावसायिक-दृष्टिकोण से प्रकाशित होनेवाले ऐसे उपन्यास समाज के लिए कितने उपयोगी हो सकते हैं यह सभी जानते हैं। अमृतराय की रचनाओं में यह बात नहीं मिलेगी— वे साहित्य में किसी ध्येय विशेष को लेकर चले हैं और उन्हें अपने ध्येय में गहरी-निष्ठा है। हिंदी में इधर प्रकाशित होनेवाले प्रथम श्रेणी के दस-बारह उपन्यासों में ‘बीज’ महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अमृतराय जनवादी विचार धारा के साहित्यकार हैं। वे औपन्यासिक-साहित्य में प्रेमचंद की परम्परा के वाहक हैं, यद्यपि प्रेमचंद के समान गहराई उनमें अभी नहीं देखी जा सकती तथापि वे उसी दिशा की ओर उन्मुख हैं।

‘बीज’ की कथा मध्यम-वर्ग के जीवन से संबंध रखती है। भारत

‘बीज’

है। जेल में वीरेन्द्र नामक एक कर्मठ कम्युनिस्ट से उसका सम्पर्क होता है। वीरेन्द्र के विचारों से सत्यवान प्रभावित होता है और जेल से छूटने के बाद अपने नगर की कम्युनिस्ट पार्टी के मन्त्री अमूल्य से मिलता है और पार्टी का सदस्य बन जाता है। पार्टी में रह कर वह जन-हित के कार्यों में बड़ी लगन और परिश्रम से जुट जाता है। बंगाल के अकाल से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता के लिए एक प्रदर्शनी का आयोजन करता है। आगे चल कर इन्हीं गति विधियों के कारण अन्य कम्युनिस्ट साथियों के साथ वह भी नज़रबन्द कर दिया जाता है। इस प्रकार सत्यवान का जीवन एक राजनीतिक कार्यकर्ता का ही तो जीवन है। पारिवारिक उल्लंघनों उसके जीवन में आती अवश्य हैं; परन्तु वह उन्हें कोई विशेष महत्व नहीं देता। उदाहरणार्थ-वैवाहिक कठिनाई, सास-बहू का संघर्ष आदि। एक जमाना था जब ये बातें बड़ा महत्व रखती थीं और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर विवाह करनेवाला व्यक्ति अपने को हीरो समझता था, लेकिन अमृतराय ने वैवाहिक प्रसंग को साधारण घटना का ही रूप दिया है, क्योंकि उनके नायक का जीवन प्रेमिका को पा लेने भर तक ही सीमित नहीं है। कठिनाइयाँ आती अवश्य हैं, पर नयी जिन्दगी में विश्वास करनेवाले नवयुवक-नवयुवतियों के लिए वे ऐसी नहीं होतीं कि वे उनके जीवन का अधिकांश भाग तथा गति-विधियों को घेर लें। इस दिशा में अमृतराय हमारे सामने नया आदर्श उपस्थित करते हैं। ‘बीज’ की कथा सत्यवान और उषा के विवाह के बाद ही मुख्यतः विकसित होती है। यह वह जिन्दगी है जिसे अकसर लेखक नज़रंदाज कर जाते हैं एक मध्यम-वर्गीय व्यक्ति को अंध-रूढ़ियों के तोड़ने के बाद किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वह सब सत्यवान के पारिवारिक जीवन में चित्रित किया गया है।

आधुनिक साहित्य और कला

सत्यवान और उषा की कथा के अतिरिक्त अन्य प्रासंगिक कथाएँ भी उपन्यास में मिलती हैं; जो इस प्रकार हैं:—

१—राजेश्वरी और महेन्द्र की कथा,

२—वीरेन्द्र और प्रमिला की कथा,

३—अमूल्य-प्रफुल्ल तथा उनके परिवार की कथा,

४—विपिन और जमुना की कथा ।

इन सभी प्रासंगिक कथाओं का संबंध किसी-न-किसी प्रकार अधिकारिक कथा से मिलता है । राजेश्वरी और अमूल्य-प्रफुल्ल तथा उनके परिवार की कथा से ती सत्यवान-उषा का जीघन निकट का संबंध रखता ही है; वीरेन्द्र और प्रमिला भी उपन्यास के अन्तिम भाग में उनसे जुड़ जाते हैं । विपिन और जमुना का ही प्रसंग ऐसा है जो मूल कथा से कोई सीधा संबंध नहीं रखता, उसका समावेश 'बीज' की मूल विचार-धारा के प्रतिकूल नहीं है । इसलिए वह अखरता नहीं वरन् उपन्यास के अंत में एक अविस्मरणीय याद छोड़ जाता है, जो पाठक को नयी जिन्दगी के संघर्ष में भाग लेने के लिये प्रेरित करता है । राजेश्वरी उपन्यास की एक समस्या है, किन्तु उसका हक पेश नहीं किया गया वरन् महेन्द्र के द्वारा उसकी हत्या करवा के पिंड छुड़ाया गया है । प्रारंभ में राजेश्वरी उपन्यास के अधिकांश भाग को घेरे हुए हैं । राजेश्वरी एक दुर्बल नारी है, लम्पट महेन्द्र के चक्कर में आकर वह अपने जीवन को बर्बाद कर देती है । अंत में उसका साहस दर्शनीय अवश्य है; परन्तु महेन्द्र को विजय कराके लेखक समाज से ऐसे पात्रों के निष्कासन का कोई मार्ग उपस्थित नहीं करता । केवल घृणा का ही उद्रेक उक्त घटना से होता है । भाव जब तक क्रिया का रूप न ले तब तक उसका विशेष महत्व नहीं ।

‘बीज’

अमृतराय में चरित्रांकन की सूक्ष्मता बहुत है। मनोविज्ञान की दृष्टि से उनके चरित्र-चित्रण में कोई दोष नहीं मिलता। मर्मस्पर्शी स्थलों पर तो उनके चित्रण में बड़ी तीव्रता आ जाती है। स्त्री-पुरुषों के यौन-संबंधों के चित्रण में दुराव न रखते हुए भी अश्लीलता नहीं आने दी गयी है। चरित्रांकन नाटकीय ढंग पर नहीं किया गया है। पात्रों की तमाम बातें लेखक ने स्वयं हाँ लिख दी हैं। यदि अमृतराय की भाषा-शैली में सौन्दर्य का अभाव होता तो ये प्रसंग बड़े नोरस तथा बोझिल हो जाते। परिच्छेद के परिच्छेद पात्र की हुलिया व चिचारों का परिचय देने में लिख डाले गये हैं। लेखक द्वारा ये परिचय बड़ी सरस तथा सरल जबान में होने के कारण अखरते नहीं हैं और भाषा शैली का चमत्कार पाठक के मन को उपन्यास में रमाए रखता है। यद्यपि ऐसे स्थलों पर कथा का सूत्र कुछ टूट-सा जाता है। भाषा शैली में जहाँ यह मोहक गुण है वहाँ कई दोष भी हैं। उर्दू के कठिन शब्दों का प्रयोग करना एक बार इतना अनुचित नहीं जितना कि पैराग्राफ के पैराग्राफ अंग्रेजी में लिख देना है। साधारण पाठक अंग्रेजी के स्थलों को नहीं समझ सकेगा। ये स्थल यदि हिन्दी में ही लिखे जाते तो स्वाभाविकता पर कोई असर नहीं पड़ता। दूसरे अमृतराय ने दो-तीन जगह कविता-सी भी की है जो प्रसंग को गम्भीरता को कम कर देती है। जैसे—“यह था बंगाल का अकाल इन्सानियत का काल, मुनाफे का जाल, जीना है जजाल, आदमी भूल से बेहाल, भेड़िये के मुँह में राल, उनके लाल-लाल गाल, जैसे किसी ने मल दी गुलाल, उनकी जेबों में माल, इनके लम्बे-लम्बे बाल, उँगलियाँ जैसे कमल की नाल, राजसों ने अपने सोने के कलशों के गिर्द मढ़ ली हजारों कुँआरियों की आबरू की खाल.....” (पृ० ८४)

‘बीज’ में अमृतराय ने जीवन की नयी परिस्थितियों का चित्रण कर

आधुनिक साहित्य और कला

युग का प्रतिनिधित्व किया है । नये भारत का चित्र उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित है । निःसंदेह हिन्दी उपन्यास-साहित्य में 'बीज' युगान्तरकारी प्रमाणित होगा ।

— — —

अष्टावक्र

की

कहानियाँ

हिन्दी कथा-साहित्य विगत कुछ वर्षों से आश्चर्यजनक प्रगति कर रहा है और उसने कुछ ऐसे कथाकारों को जन्म दिया है जो सम्पूर्ण भारतीय कथा-साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी ठहराये जा सकते हैं। एक समय था जब कि हिन्दी के कथाकार बंगला और अंग्रेज़ी लघु-कथाओं से प्रभावित होकर लिखते थे, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उनमें मौलिकता का निन्तात अभाव था। धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के विस्तार के साथ-साथ अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों के साहित्य से भी हिन्दी के लेखक प्रभावित होने लगे, जिसमें रूसी-साहित्य अग्रगण्य है। वर्ग-संघर्ष की सफलता ने रूसी-साहित्यमें एक नयी चेतना को जन्म दिया। कथाकारों को जीवन के नये-नये क्षेत्रों में विचरण करने का अवसर मिला। इसी समय दुनिया के अन्य देशों में भी आशा और विश्वास का नया प्रभात हुआ। वहाँ के कथाकारों ने भी पद-दलित मानवता की आवाज़ को बुलन्द करना प्रारम्भ कर दिया। युवक कथाकार नवीन शैली में निर्भीक अभिव्यजना करने लगे। प्रेमचंद इसी प्रगतिशील व जनवादी परम्परा के अग्रदूत थे। उन्होंने भारतीय कथाकारों को नयी दृष्टि दी। प्रेमचंद की वह परंपरा आज द्रुतगामी है, गोकि एक बड़ी

आधुनिक साहित्य और कला

संख्या में रेलवे-स्टालों पर बिकनेवाली कहानी की पत्रिकाएँ व पुस्तकें भी देखने को मिलेंगी जो नितान्त हीन कोटि की हैं। लेकिन वे कहानियाँ विकास को रोक नहीं सकतीं; बावजूद इसके कि वे बहुत खप जाती हैं। दूसरी ओर प्रगतिशील, स्वस्थ और यथार्थवादी कथाकारों का जबर-दस्त समूह हमारे सामने आता है, जिसने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया ही नहीं, उसमें विचार व टेकनिक संबंधी युगान्तरकारी परिवर्तन भी किये हैं। जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, कृशनचंद, अमृतराय, रांगेय-राघव, विष्णुप्रभाकर, हंसराज, रहबर, अइक आदि के नाम जिसके अमृतगंत गिनाये जा सकते हैं। कृशनचन्दर, अमृतराय और रांगेय राघव जैसे अत्यधिक संवेदनशील कथाकारों ने हिन्दी में कथा-शैली को एक नया रूप दिया है। रिपोर्ताज का आरम्भ-जो रूसी-साहित्य की देन है, हिन्दी में एक प्रकार से इन्हीं के द्वारा होता है। इन तीनों लेखकों में अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ, बहुत-कुछ समानताएँ भी हैं; संदेह नहीं। हिन्दी कथा-साहित्य में इनका आना पौरुष के प्रवेश के समान है। कथाकार अमृतराय का लक्ष्य उपर्युक्त शेष कथाकारों की अपेक्षा अधिक साफ है, इसीलिए वे निशाने पर चोट कर जाते हैं। उनमें भावात्मक आवेश की कमी नहीं है, किन्तु सर्वत्र एक संतुलित, बौद्धिक धरातल उनके साहित्य में मिलेगा। शायद इसका कारण उनमें आलोचक की दृष्टि का होना है। तभी वे सबसे अधिक जागरूक दिखायी देते हैं। इस उल्लेख का उद्देश्य शेष कथाकारों के महत्त्व को कम करना नहीं है वरन् अंतर का निर्देश मात्र करना है। यही कारण है कि अमृत की कहानियाँ दिन-पर-दिन लोकप्रिय होती जा रही है।

अभीतक अमृतराय के चार कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जीवन के पहलू, तिरंगे कफन, इतिहास, और लाल धरती। 'जीवन के पहलू'

अमृतराय की कहानियाँ

प्रथम संग्रह है जिसमें सन् १९३७ में लिखी कहानियाँ संकलित हैं। उपर्युक्त चारों संग्रहों में ६२ कहानियाँ हैं।

अमृतराय के कथा-साहित्य के, कहानियाँ, स्केच और रिपोर्टाज (कहीं-कहीं पत्र के रूप में) ये तीन रूप हैं। कहानियाँ यद्यपि कम लिखी गयी हैं, पर वे सर्वश्रेष्ठ हैं। रिपोर्टाज तथा पत्रों में अनिव्यंजना व भाषा का प्रवाह ठेजोड़ है। स्केच कहीं-कहीं बोझिल और रूखे हो गये हैं। उपर्युक्त तीनों रूपों पर पृथक्-पृथक् विचार करने पश्चात् सम्पूर्ण कथाकार अमृतराय की विशेषताओं का उल्लेख क्रमिक होगा।

जहाँतक कहानियों का संबंध है उनकी “आह्वान”, “फाँका कागज” ‘फिर,’ ‘फिर सुबह हुई’ आदि कहानियाँ बड़ी आकर्षक, प्रभावशाली एवं साहित्य में उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं। ये कहानियाँ आदमी के मन में बहुत गहरे पैठ जाती हैं। प्रायः सभी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं। लेखक को मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण में कमाल हासिल है। ‘आह्वान’ शीर्षक कहानी ३१ पृष्ठों की एक लंबी कहानी है जो आत्मकथा के रँगों को लिये हुए है। शिरीष और ललिता के मानसिक संघर्ष को पारिवारिक सीमाओं के अन्तर्गत चित्रित किया गया है। शिरीष अपने अन्तरंग मित्र बीरू को पत्र में लिखता है—

“मगर मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि वह स्वर केवल उनका (माँ) नहीं था। उस समय उनके माध्यम से बोल रहा था हमारा जीर्ण-जर्जर युग, हमारी प्राचीनतम रूढ़ियाँ, हमारे युग-युग के पोषित अन्धविश्वास। वह हमारे अन्धकार-युग का स्वर था।” (पृष्ठ १४, ति.रु.)

कहानी के आदि में ही एक विद्रोहात्मक वातावरण की सृष्टि की गयी है और अन्त में भविष्य को अतीत पर विजयी बताया है। लेखक ने

आधुनिक साहित्य और कला

ललिता का मानसिक द्वन्द्व मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। जब वह कहती है—

“मैं तो बस यह जानती हूँ कि आवश्यकता पड़ने पर मैं तुम्हारे जीवन से तुरन्त अलग हो जाऊँगी... पूरी सद्भावना के साथ। इस बात का मैं तुम्हें विश्वास दिलाना चाहती हूँ, केवल तुम्हें, क्योंकि उस सुख के लिए मैं तुम्हारी ऋणी हूँ जो मुझे तुमसे मिला है।” (पृ० ३८ वही)
तो ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी चरमसीमा को छूती हुई एक निराशा और पराजय भरे अन्त की ओर उन्मुख हो रही है, पर लेखक का नये भविष्य पर अदृश्य विश्वास है जो पुरोगामी तत्त्वों, मानसिक दुर्बलताओं तथा पारिवारिक सीमाओं की कैद स्वीकार नहीं करता। ललिता और शिरीष जीवन-सूत्र में गुँथ जाते हैं। शिरीष अपने पत्र में, जो उसने ललिता की माँ को लिखा है, वैवाहिक उद्देश्य को प्रकट करता हुआ कहता है—

“मैं व्यक्ति को परिवार के कोल्हू में जुतकर समाप्त हो जानेवाले बैल से अधिक गौरवशाली देखने का अभिलाषी हूँ।” (पृ १५. वही)

यह निस्सन्देह एक युवक की वीरोचित अभिव्यक्ति है जो पाठक की आत्मा को शक्ति प्रदान करती है। ‘फिर सुबह हुई’ में एडवर्ड अस्पताल की डाक्टरनी मिस सिमसन के अन्तर में स्थित मातृत्व की लालसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, पर मिस सिमसन की डायरी के ये शब्द उद्धृत करना, जो उसकी गुह्य भावनाओं को उभारकर रखते है—

मैं अपनी जिन्दगी से बुरी तरह ऊब गयी हूँ।...जब मैं कहीं भी बाहर से लौटती हूँ तो मैं यह नहीं चाहती कि यह भुतहा मकान कब की तरह अपना सीना खोले बाहें फैलाये मेरी अगवानों में खड़ा रहे... क्योंकि मेरा कोई आदमी नहीं है जो मुझे अपनी मजबूत, फौलादी बाहों

अमृतराय की कहानियाँ

मैं समेटकर मेरे होठों को चूम ले, जो मेरे बच्चों का बाप हो ?....कोई मुझे 'डालिंग कहकर क्यों नहीं पुकारता ?.. कोई मेरा दामन पकड़कर क्यों नहीं खींचता ? मैं किसी के मखन से नर्म और गुलाब की तरह गुलाबी गालों पर ये झुर्रीदार गाल क्यों नहीं रख पाती ? मैंने क्या कसूर किया था जो ये नेमते मेरी न हुईं ?.. सैकड़ों बच्चे मेरे इन हाथों से जमीन पर आये हैं मगर खुद मेरा कोई भी नहीं जिसे मैं अपना कहकर गले से लगा लूँ ..।" (पृष्ठ १०८, वही)

विकसित बुद्धि के पाठक के लिए यह आवश्यक नहीं था। मनोवैज्ञानिक कहानियों में मन पर पड़नेवाले प्रभावों तथा मानसिक अस्तव्यस्त दशा को प्रकट करनेवाले मात्र संबन्ध ही अपेक्षित रहते हैं। उसे अधिक स्पष्ट करने से प्रभाव की तीव्रता कम हो जाती है।

यह अवश्य है कि अमृतराय ने कहानियाँ जैसी रचनाएँ कम लिखी हैं, पर जो हैं वे भाव, वचार, शैली व भाषा की दृष्टि से बड़ी ऊँची दर्जे की हैं। उनके कथानक मनोवैज्ञानिक धरातल पर खड़े होते हैं। पात्रों का मानसिक विश्लेषण बड़े सरस व सरल ढंग से किया गया है।

दूसरे प्रकार की रचनाएँ रिपोर्टाज के रूप में मिलती हैं। इनमें से कुछ रिपोर्टाज पत्रों के रूप में लिखी गयी हैं। गोडसे के नाम खुली चिट्ठी, यूरोप की विजयी जनता के नाम, एटमी सुलतान दूमन के नाम, बकसा के एक शेर के नाम, दुर्भिक्ष मंत्री कथाकार मुंशी के नाम, आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। यंत्रणाओं की घड़ी, तेलंगाना के वीरों से, परजाते के फूल, कोरिया का नया भूगोल नई दुनियाँ के मेमार आदि रचनाएँ विशुद्ध रिपोर्टाज के ढंग पर लिखी गयी हैं। अमृतराय की लेखनी का जौहर देखना हो तो इन रचनाओं को पढ़िये। भाषा की स्वामी व भावावेग इन रिपोर्टाजों में बहुत अधिक है। इनमें साहित्यकार के हृदय

आधुनिक साहित्य और कला

की भाग समाज और देश की विषम परिस्थितियों को देखकर भड़क उठी है। बड़े जोश के साथ निर्मम प्रहार अमृत ने किये हैं। आज के दम घोंट देनेवाले वातावरण में फैली हुई रोजमर्रा की घटनाओं को लेकर ये रिपोर्ताज पेश किये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी तानाशाही शक्तियों के अत्याचारों के विरोध में यूरोप की विजयी जनता के नाम वे कहते हैं—

“और यही सच है इस बात का कि दुनियाँ को गुलाम बनानेवाला एक है और उसके खिलाफ तमाम मजलूमों की लड़ाई भी एक है। यो देखने पर तुम हिटलर से लड़े, मुसोलिनी से लड़े, पेटां से लड़े, लवाल से लड़े, वदोलिया से लड़े, मिहाइलोविच से लड़े, और हम अंग्रेजी सल्तनत से लड़ रहे हैं। मगर गौर से देखो तो तुम जिससे लड़ रहे हो हम भी उसी से लड़ रहे हैं और हम जिससे लड़ रहे हैं तुम भी उसी से लड़ रहे हो। अगर ऐसा न होता तो तुम्हारी लड़ाई हमें क्यों ताकत मिलती और हमारी लड़ाई से तुम्हारे हाथ कैसे मजबूत होते? बात असल यह है कि लुटेरों के एक गिरोह ने हमको, तुमको, सबको कैद कर लिया है और अपने पहरेदार कुत्ते बिठला दिए हैं। नामों के भोखे में मत आओ। अखिर तुम्हारे यहाँ भी तो कुत्तों की बहुत-सी किस्में होती हैं—स्पेनियल, ग्रेहाउण्ड, फॉक्स टेरियर, बुलडॉग....।” (पृष्ठ, ४८ इतिहास)

‘तेलंगाना के बीरों से’ सबसे श्रेष्ठ व प्रभावपूर्ण गद्यांश है। शैली की दृष्टि से यह रचना बड़ी हृदय-विदारक बन गयी है। नीचे लिखा अंश भावाभिव्यक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है—

“मगर यह किसकी आवाज है जो अपनी पुरजोश जबान में मुझसे कह रही है कि यह शिकस्त कोई शिकस्त नहीं, जल्दाद की यह फतह कोई फतह नहीं...यह तो वह कीमत है जो हम बहुत सादगी से निहा-

अमृतराय की कहानियाँ

यत बेतकलुफी से अदा करते हैं क्योंकि वह जो नयी दुनिया आ रही है उसके मेजबान हमी हैं...वह नयी दुनियाँ क्या यों ही बगैर कोई कीमत चुकाये आ जायेगी ? वह नया सूरज क्या धरती की कोख से यों ही बगैर किसी दर्द और खून के निकल आयेगा...नहीं, ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। वह नयी रंगारंग सुबह मुझे, तुमसे, हर एक आदमी से कह रही है कि मुझे तुम्हारे दिल का खून चाहिये, मुझे अपने उस धड़कते हुए दिल का खून दो जहाँ पर गोली लगी, अपने सर का खून दो जिन पर लोहे के कुदे बरसे हैं, अपने कटे हुए हाथों और पैरों का खून दो जिन्हें कासिम रिजवी के रजाकारों ने काट डाला है, अपनी लहलुहान उँगलियों का खून दो जिनके नाखूनों में जालिम ने खजूर के काँटे चुभोए हैं, अपनी आँख के सूने कटोरों का खून दो जिनका मानिक अब किसी के नौलखाहार में जड़ दिया गया है क्योंकि अब तो वह भी महज एक पत्थर है...खून दो। खून दो। खून दोगे, तभी उस रंगीन सुबह के आने पर कह सकोगे कि उसमें तुम्हारा दिया हुआ रंग भी शामिल है। (पृ. ४२, ४३ लाल धरती)

अमृत अपनी अभिव्यक्ति में बड़े निर्भीक हो जाते हैं। उनकी लेखनी पर शासन का अंकुश काम नहीं करता। स्पष्ट शब्दों में वे अपनी बात कहते हैं—“यह हुकूमत जो गाँधी के नाम का दुपट्टा ओढ़ कर दिन-रात अहिंसा और रामराज्य का राग अलापती है असलियत में जनता के इन्कलाबी आन्दोलन की बोटी-बोटी उड़ा देने का सपना देखनेवाले वूचड़ों की हुकूमत है।” (पृ. ५४, ला० ध०), अथवा

‘सुट्टी भर नेताओं की गद्दारी के कारण देश की इन्कलाबी धरती बोझिल नहीं हुआ करती और वक्त का जवाब देने के लिए बहादुरों की नई फौज को उठाकर खड़ा कर देती है।’ (पृ. ५५, वही)

आधुनिक साहित्य और कला

लेखक को अपने सिद्धान्तों के प्रति अदम्य विश्वास है। 'जिन्दगी का खिराज' में सईदा को पत्र में लिखा गया है—“सईदा, यह मेरा कम्युनिज्म नहीं, जमाने की सबसे बड़ी हकीकत है। आज हम इतिहास के उस दौर से गुजर रहे हैं जब हर छोटे से छोटे और बड़े-से-बड़े सवाल का जवाब सिर्फ कम्युनिज्म दे सकता है, जब मोलोटोव के अलकाज में हर रास्ता इंसान को कम्युनिज्म की तरफ ले जाता है।” (पृष्ठ ७५, वही)

पर कहीं-कहीं आवेश की अधिकता हो जाती है। हिंसा, रक्त अथवा घृणा के उभार के चित्र भारत के हृदय पर उतर नहीं सकते। 'दुर्भिक्ष मन्त्री कथाकार मुन्शी के नाम' शीर्षक पत्र में एक स्थल पर वे लिख गये हैं—“जिसमें लोगों को तड़पा-तड़पा कर मारने वाले हत्यारे मुनाफाखोर बगुले के पर के समान सफेद खदर का कुर्ता-धाती और गांधी टोपी लगा कर मुँह में पान या चुट्ट दबाकर मूछों पर ताव देते हुए असेम्बली के गलियारों में नहीं घूमेंगे, बल्कि फाँसी पर टंगे हुए दिखायी देंगे और उनकी लम्बी, लाजवो, गरीबी का खून टपकाती हुई जीभ मरे हुए कुत्ते की जीभ की तरह बाहर को लटक रही होगी।” (पृ १२९ वही)

यहाँ उनका भावावेश बहुत अधिक हो जाता है। भावावेश के समय संयम को न खोना चाहिये। इसी बात को बीभत्स न बनाकर दूसरे ढंग से रखा जा सकता था। अमृत स्वभाव से भावुक हैं। उनके दिल पर विश्व पर घटने वाली अनेक ऐसी बातों का प्रभाव पड़ता है जिनके कारण करोड़ों निरपराध गरीबों पर संकट आता है। उनके जीवन का मिशन उन्हें ऐसा लिखने के लिए प्रेरित करता है। उनकी विचारधारा से लोग सहमत नहीं हैं अथवा जिनके मन में

अमृतराय की कहानियाँ

जनवादी शक्तियों का भय भरा है, वे उनके नग्न सत्य को सहन नहीं कर सकते, अमृत शासन अथवा प्रतिद्वन्द्वी की कमजोरियों पर ऐसा प्रहार करते हैं कि विरोधी तिलमिला जाता है। 'प्रतीक' (मई-जून '५२ प्रकाशित श्री सत्येन्द्र शर्मा द्वारा 'लाल धरती' की समालोचना मेरे उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि में उद्धृत की जा सकती है, जहाँ आलोचक को इतनी जिंदा किताब में कुछ नजर ही नहीं आता।

तीसरे प्रकार का कथा-रूप स्केच है। अमृतराय ने स्केच बहुत लिखे हैं। ये स्केच नयी टेकनिक में ढाले गये हैं। 'इतिहास' में ऐसे स्केच बहुत हैं। 'जीवन के पहलू' में 'तीन चित्र' शीर्षक रचना में प्रथम में किसानों के जीवन से संबंधित घटना का चित्रण है। हरखू को बद-चलनी के जुर्म में पकड़ कर हिरासत में डाल दिया जाता है जबकि वह निर्दोष है। द्वितीय में दोस्ती पर व्यंग्य किया गया है और चीटों से मनुष्य की तुलना की गयी है। तृतीय में लेखक का कथन है— अपनी खुशी के भूचाल में खोया हुआ आदमी एक चीज को खुद मुर्दा और बासी बना चुकने के बाद, उसी से नफरत करने लगता है, करने की जुरअत रखता है...अजीब कायदा है।" (पृ १४९, जी० के० प०)

इस संग्रह में सबसे उत्तम स्केच है—'प्रेम = अंगूठी + इयरिंग'। वर्तमान पढ़ी लिखी (?) लड़कियों तथा पढ़े लिखे (?) लड़कों के प्रेम का बड़ा ही यथार्थ चित्र इसमें उपस्थित किया गया है। 'तिरंगे कफन के अन्तर्गत 'अन्धकार के खंभे' नये टेकनिक की रचना है जिसमें अभि-जातवर्गीय विवाह का खाका खोचा गया है। बड़े सुन्दर गद्यांश इस स्केच में मिलते हैं। यथा—“क्या तुमको बतलाने का जरूरत है कि इस घर के कक्ष-कक्ष में, कोने-कोने में आलिंगन-पाश में बँधी हुई हमारी स्मृतियाँ सो रही हैं !”

आधुनिक साहित्य और कला

“वह कौन सा अभिशाप है चित्रा, जिसने चुपके-चुपके हमारे जीवन का बहुत-सा रस सोख लिया, जिसने संकेत से प्रेम को पापाचार कहा और जैसे उसके यह कहते ही प्रकाश के लोक से स्खलित होकर प्रेम का राजहंस जड़ अन्धकार का चमगीदड़ बन गया”...(पृ. ४४, ति० क०)
‘कीचड़’ साम्प्रदायिक दंगों पर लिखा व्यंग्य-चित्र है। ‘बेचारा’ शीर्षक रचना अपने अन्त की नवीनता के लिए याद बनी रहती है। एक ढर्रे की अभिव्यक्ति बड़े अभिनव ढंग से की गयी है—

“बगलवाले घर के कोठों पर बनिये की स्थूलांगी लड़कियाँ अपना ‘फोनोग्राफ बाजा’ बजा रही थीं—

बिरहा अग्नि जला—य। बनिये का तो ग्रामोफोन कुछ बिगड़ गया था, रेकार्ड भागे खिसकता ही न था और बेतहाशा बजाये जा रहा था—

बिरहा अग्नि जला—य, बिरहा अग्नि जला—य और फिर भारतीय ऋतुम ऋतुम के ढंग पर जल्दी-जल्दी बजाने लगा—जलाय जलाय जलाय...” (पृष्ठ ८५, ति० क०)

‘व्यथा का सरगम’ दिल दहलानेवाली घटना का चित्र है।

“बन्नो को लगा कि जैसे वह एक बड़े भाइने के सामने हो। जो लड़की जमीन पर मादरजाद नंगी, चित लेटी है वह वही है, बच्चो, उसी को आधी दर्जन बाँहें जमीन से चिपकाए हुए हैं और भेड़ियों जैसी भूखी-भूखी ये आँखें वहाँ हैं जो पहले भी उसे यों ही घूर चुकी हैं...” (पृ ६२, वही)

ऐसे प्रसंगों पर नैतिक आदर्शवादियों को शायद आपत्ति हो। ‘कस्बे का एक दिन’ मध्यवर्गीय जीवन का एक चित्र है। ‘दो शब्द’ में खेखक ने इस स्केच के संबंध में लिखा है,—“कस्बे का एक दिन लिखते समय मुझे गोर्की का ‘कामरेड’ स्केच याद आया था और मैंने चाहा था

अमृतराय की कहानियाँ

कि अपने स्केच में मैं समाज के उन तत्वों की ओर सकेत कर सकूँ जो कस्बे की गड़बड़ जिन्दगी को सुचारु और सुव्यवस्थित रूप देने के लिए प्रयत्नशील हैं और एक दिन जिनकी जीत होगी। लेकिन तब भी मैं वैसा नहीं कर सका। यह कुल अंशों में मेरी अपनी अक्षमता भी है, इस अर्थ में कि मेरे पास वह तेज निगाहें नहीं हैं जो समाज के उन तत्वों को, जो अभी केवल बीजरूप में हैं, देख सकें। पर बात इतनी ही नहीं है। लेखक जिस सामाजिक परिवेश, जिन पात्रों और जिस कथा-वस्तु को लेकर चलता है, वे भी एक हद तक लेखक को एक खास निष्पत्ति की ओर जाने पर विवश करते हैं। 'कस्बे का एक दिन' में नवनिर्माण के तत्वों की सूचना न होने के पीछे मेरी अक्षमता के साथ उस सामग्री की आन्तरिक अक्षमता भी है जिसने स्केच के ईंट-गारे का काम किया है।" (पृ० १४३-४४) अतः रचना का अन्त भी उसी रूप में होता है—

“यहाँ तक कि उसे सारा कस्बा ही एक दैत्याकार ताक-सा जान पड़ा जिसपर उसकी बहन और बहनोई और मुनिया और सन्तू के भाई और मास्टर साहब और उन स्कूली लड़कों और उनकी लुटिया चुराने वालों की जिन्दगियाँ फुटकर चीजों की तरह गड़मड़ पड़ी हैं। (पृ. १३०, ति० क०)

‘कस्बे का एक दिन’ यथार्थवादी घटना है—एक फोटोग्राफ है। ‘इतिहास’ में संकलित ‘नफरत’ स्केच में आदमी की स्वार्थपरता पर व्यंग्य है। ‘झंखड़-चिरवा’ में असंतुलित जीवन का पारिवारिक चित्रण है अन्त में टेक्निक की जबरदस्त नवीनता है। अन्त आकर्षक होने के कारण कहानी मस्तिष्क में काफी देर तक गूँजती रहती है।

“पर नींद उसकी आँखों में कहाँ? शाम की, दिन-भर की घट-

आधुनिक साहित्य और कला

नाएँ और अम्मा की बातें भिन्न के छत्ते के समान उसके दिमाग में किलबिल कर रही थीं। आँखें मूँद लीं तो बड़े-बड़े टीलों के आकार के गुल्बारे या भूरे-भूरे बादल के टुकड़े उसे अपनी ओर बढ़ते और आपस टकराकर बिखरते दिखायी पड़ते और उसका सिर भन्ना उठता। उसे लगता कि उसकी जिन्दगी बारह या लगभग इतनी ही सीढ़ियों का जीना है जिस पर वह चढ़ती है और उतरती है और चढ़ती है और उतरती और... पानी देती है, जिन्दगी के उस झंखड़ ब्रिगे को जिसमें न फल लगता है, न फूल ! (पृ. ४१, ६०)

‘सती का शाप’ शीर्षक रचना जरा कुछ अस्वाभाविक-सी हो गयी है। एक लम्बी बीमारी से घर के लोग तंग तो अवश्य हो जाते हैं, पर इतने कठोर व पशु नहीं बन जाते। जो हा, माँ का अमानवीय चित्र निष्प्रयोजन लगता है। ‘परजाते के फूल’ में मजदूर-जागरण का चित्र है। ‘लोग’ विधवा जीवन पर लिखित एक सामाजिक व्यंग-चित्र है। ये तमाम स्केच अमृत ने लिखे हैं जो भरना प्रगतिशील यथार्थवादी दृष्टिकोण रखते हैं। कहीं-कहीं टेक्निक के भी सफ़र प्रयोग किये गये हैं। फिर भी स्केचों में उतनी तेज़ी नहीं है जितनी उनमें होनी चाहिये। रेखाचित्रों में details बहुत कम होते हैं। उनमें दृश व रंगों का अधिक उपयोग नहीं किया जाता। केवल कुछ रेखाएँ ही कलाकार के मन्तव्य को प्रकट कर देती हैं। अनावश्यक रेखाओं का समावेश रेखाचित्र के महत्त्व को कम कर देता है। अमृतराय के बहुत से स्केचों में details की भरमार है जो उन्हें शिथिल कर देते हैं। स्केचों में स्थानाभाव के कारण इतना अवकाश कहाँ रहता है कि बारीक से बारीक details पर लेखक की दृष्टि जाय। यह एक औपन्यासिक प्रतिभा के लिए अवश्य महत्त्वपूर्ण तत्व है, पर स्केचों में उसका विस्तार संगत

अमृतराय की कहानियाँ

नहीं। अमृत के स्केचों में से उदाहरण के लिए निम्नलिखित अंश उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन्होंने स्केचों को एकरस (monotonous) बना दिया है:—

“सफेद कोट-पतलून पहने और जहाजियों की-सी काली टोपी लगाये बैड़वाले। रेशमी-कुर्ता और धोती पहने हुए, किश्तीनुमा टोपी लगाए हुए; चूड़ीदार पाजामा और रेशमी या सफेद अचकन पहने, साफा बाँधे; ढीला-ढाला रेशमी पतलून और वही ढील-ढाला रेशमी कोट और रात को भी सोला हैट लगाए हुए या फैल्ट हैट से कान तक ढँके हुए या उसे गौरैया की तरह चुन्दी पर बिठा ले हुए;...।” (पृ. ४१, अंधकार के खंभे, ति० क०)।

“फेदरिस्त बनकर तैयार हुई तो उसमें बाबू कुलदीप नारायण मुख्तार, बाबू रघुनाथप्रसाद मुख्तार, बाबू शिवलालजी मुख्तार, बाबू कामताप्रसाद मुख्तार, मिस्टर लक्ष्मीनारायण वकील, ठाकुर यमराजसिंह रईस, ठाकुर हरनामसिंह रईस, मिस्टर वलीउल्ला डाक्टर, मौलवी एहताराम हुसैन हेडमास्टर, शेख अबदुस्समर जमींदार, मुंशी भगवतीप्रसाद जमींदार, लछमन साव, बेचन साव, मंगली साव, राधेश्याम सराफ, रामदीन मिसिर, बाबू चन्द्रिकाप्रसाद बड़े पेशकार और मिस्टर प्रेमरतन सक्सेना तहसीलदार—ये लोग थे।” (पृ० १७२, लोग, इ०) आदि।

अमृतराय सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं पर बड़ी करारी चोट करते हैं। प्रत्येक रचना का कोई न कोई सामाजिक उद्देश्य रहता है जो हमारी प्राचीन मान्यताओं तथा रूढ़िगत मानसिक संस्कारों को हिला देता है। हिन्दी कथा-साहित्य में इतना तीखापन तथा आक्रमणकारी प्रवृत्ति कम ही देखने को मिलेगी। लेखक के इसी उद्देश्य के कारण कुछ

आधुनिक साहित्य और कला

लोगों को उनकी कहानियों में कथानक का अभाव खटकता है। उनकी कहानियाँ शास्त्रीय समालोचना के सिद्धान्तों पर नहीं परखी जा सकती। उनका उद्देश्य अपने पाठकों का मनोरंजन अथवा उनके फालतू समय की खुराक देना नहीं है। अमृत को अपनी कहानियों में जीवन की विषमताओं पर प्रहार करने का जहाँ भी अवसर मिला है, वे चूके नहीं हैं। उनकी कहानियाँ क्रान्तिवादी शक्ति की प्रतीक हैं जो दुनियाँ को बदलने की भावना को दृढ़ करती हैं, जो इंसान की सोयी शक्ति को जगाती हैं और हर्द-गिर्द फैले हुए अमित विचारों के बीच नयी राह प्रदर्शित करती हैं। प्रगतिशील लेखक होने के नाते उनकी सहानुभूति दलित वर्ग के प्रति है अथवा यों कहें कि उनका दृष्टिकोण मानवतावादी है। वे मनुष्य का विरोध नहीं करते, बरन् उन सिद्धान्तों तथा राष्ट्रों के घातक हराड़ों पर पूरी शक्ति व पूरे आवेश से प्रहार करते हैं जो दुनिया में हैवानियत, निर्दयता तथा हिंसा के साम्राज्य का विस्तार कर रहा है। ऐसे अवसरों पर कहीं-कहीं वे बड़े कटु भी हो गये हैं; पर उनका इंसान तथा उनके कलाकार के हृदय का स्वर्गीय स्वप्न सदैव उस कटुता पर हावी रहता है और वे बड़े विश्वास के साथ आनेवाली नयी जिन्दगी का स्वागत करते हैं। 'लाल धरती' की भूमिका में जैसा कि कृशनचन्द्र ने लिखा है—'अमृतराय की कहानियाँ ऐसी नहीं हैं जो जिन्दगी और मौत के बीच तटस्थ रहती हैं।' ये मनुष्य से प्रेम करनेवाली कहानियाँ हैं, मनुष्य से दुश्मनी करनेवाली कहानियाँ नहीं। यानी ये ऐसी कहानियाँ नहीं हैं जो सुलाती हैं, अफीम खिलाती हैं, धोखा देती हैं, मीठेपन के अंदर ही अंदर खंजर भोंकती हैं। अमृतराय की कहानियों में वह दोगलापन जो ज्यादातर साहित्यिक प्रयासों में आपको मिलता है, नहीं मिलेगा। ये कहानियाँ इंसान के दुश्मनों की दुश्मन हैं, इंसान के

अमृतराय की कहानियाँ

दोस्तों की दोस्त । ये कहानियाँ मुतलक ऐसी कोशिश नहीं करती कि दोस्त और दुश्मन दोनों को खुश किया जाय”, एक सत्य है ।

अमृत की कहानियों की शैलीगत विशेषताओं में व्यंग्य की प्रवृत्ति मुख्य है । जहाँ कहीं प्राचीनता का मखौल उड़ाया है, वहाँ उन्होंने व्यंग्य का सहारा लिया है । सोधी बात कभी-कभी दृढ़ता प्रभाव नहीं डालती जितनी कि व्यंग्य से भरी । व्यंग्य (Satire) अमृत का एक हथियार है । निम्नलिखित गद्यांश व्यंग्यात्मक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं ।

“क्योंकि वह भावुक हैं, और कलाकार हैं, इसलिए अर्नात का पुजारी है और पुराने घाव को हरा कर देना उसे अच्छा लगता है ।

क्योंकि कलाकार को खाने का चिन्ता नहीं होता । और वह कलाकार था ।” (पृ० १७६, जी० प० के०) ।

‘ये मटके शादी की बिल्कुल जरूरी चीजें हैं, यानी एक बार दूल्हे के बिना शादी भले ही हो जाय, इन मटकों के बिना नहीं हो सकती ।’ (पृ० ४१, ति० क०) ।

“पार्वती जानती थी कि चार-चार शापों का बोझ ढोने के लिये उसे दुनिया से बिल्कुल अलग होना पड़ेगा । पहला शाप कि हिन्दू हुई, दूसरा शाप कि औरत हुई, तीसरा शाप कि विधवा हुई, चौथा शाप कि सुंदरी विधवा हुई । कुछ अनर्थ के ग्रह एक ही जगह तो इकट्ठा हो गये थे । किसी को लांछित करने में समाज को रस आता है, और लांछना की पात्रो अगर एक युवती सुंदरी विधवा हो, तब तो फिर क्या पूछना, उसके मुँह से मानो राल टपकने लगती है । हमारे समाज में विधवा के लिए लांछना का सदाव्रत खुला रहता है, समाज मुक्त हस्त होकर दान करता है, जिसका जितना लेना हो, जो जितना ढो सके ।” (पृ० १ ४, इ०) ।

आधुनिक साहित्य और कला

“इतना ही नहीं, आप उस हिन्दुस्थान के बारे में लिखना पसंद करते हैं जो कि कभी था और अब नहीं है, जो कि सैकड़ों साल हुए मर चुका, जिसे अब कोई जिला नहीं सकता। आपकी हस्ती ही क्या, उसे अब विधाता भी नहीं जिला सकता। आप चाहते हैं कि आपके पढ़नेवाले उसी मुर्दा हिन्दुस्तान को ताकते बैठे रहें, उसी में साँस लें, उसी के सपने देखें। शायद अतीत की ओर आँख लगाए बैठे रहने को ही आप और आपके भौटगण जागना कहते हैं। आपके नजदीक शायद आँख का खुला रहना ही जागने की अकेली अलामत है, मगर क्या आपको इस बात का पता नहीं कि बहुत से लोगों की आँखें नींद में भी खुली रहती हैं। जो हाँ, उनकी आँखें खुली रहती हैं और ये सपना देखा करते हैं। मैं उसे भी नींद की कई किस्मों में से एक भयानक किस्म समझता हूँ। एक ऐसी नींद जिसमें असली नींद को ताजगी भी नहीं है बल्कि है नींद न आने की ऊब और थकन और पलकों का भारी हो जाना। आपका साहित्य ऐसी ही नींद का चूर्ण है।”

पृ० १२८, ला० ब०, दुर्भिक्ष मंत्री कथाकार मुंशी के नाम)।

व्यंग्य प्रधान शैली के अतिरिक्त हास्य का पुट भी उनके साहित्य में उपलब्ध हो सकता है। जैसे:—

‘दरवाजा खोलकर घुसा ही था कि रामचन्द्रजी का द्विचक्रयान मुझे हठयोग की एक अत्यन्त कठिन मुद्रा में लटकता दिखाई पड़ा। एक मोटी रस्सी, जी हाँ, काफी मोटी जिससे सायकिल तो क्या यदि बाणासुर को कस दिया जाय तो वह भी चीं बोल देता...।’ (पृ० ८१, ति० क०)।

कहीं-कहीं वे कार्टूनिस्ट बन जाते हैं।

“नीचे जड़ पर मोटे केंचुए के बराबर मोटी धारियों का ढीलमढाल

अमृतराय की कहानियाँ

पतलून है, जैसे एक छिस्कली पतलून पहन कर चलने लगी हो, खड़े होकर, सीधे । (पृ० ५६, ति० क०) ।

और इन सबसे बढ़ चढ़ कर है उनकी अभिव्यंजना-शक्ति (Power of Expression) । भावों और विचारों को नये नये प्रतीकों व उपमाओं द्वारा उन्होंने व्यक्त किया है । ये प्रतीक व उपमाएँ हमारे जीवन के अधिक निकट हैं इसलिए उनमें एक शक्ति है । जैसे—

“फूटी थाली का-सा उखड़ा-उखड़ा स्वर देर तक हवा में गूँजता रहा” (पृ० १७३, जी० के पहलू) ।

‘आसमान पानी की तरह साफ़ और पानी आसमान की तरह नीला था ।” (पृ० ९, ति० क०) ।

“स्वर खिंचा हुआ, गहरा, गहरे पानी की तरह ।” (वही) ।

“उसके चारों ओर या पहाड़ी प्रदेश जहाँ स्वस्थ पुरुष के सीने की-सी चौड़ी-चौड़ी चट्टानों पर चाँदनी अपनी समस्त कोमल, नम्र रूपराशि समेत बेखटके सोई हुई है ।” (पृ० ६-१०) ।

“कानिस्टबिल के चेहरे जैसी ख्वासत-भरा गेँहुँअन चेहरा ।” (पृ० ८) ।

“रामचंद्र सड़क कूटने वाले इंजन की तरह अपनी बातें कूट-कूट कर मों और मौसी के दिमाग में बिठला देना चाहता था जिसमें फिर कभी उन से यह भूल न हो ।” (पृ० ८४)

“उसकी मुख-श्री तुहिनस्नात मटर के फूल के समान है ।...पर उसकी मुख-मुद्रा को जैसे किसी गहरी उदासी का धुआँ लग गया है ।” (पृ० ८७)

“सुमेर की आँखों में आँसू आए, मगर नहीं आए; वैसे ही जैसे जलते हुए तवे पर पानी की बूँदें गिरती हैं, मगर नहीं गिरती ।” (पृ. १८ इ.)

आधुनिक साहित्य और कला

“मेरा तमाम शरीर जैसे फुस-फुसी मिट्टी का हो गया था जो उठाते ही वहीं ढेर हो जाता।” (पृ. ४३)

अभिव्यञ्जना के ये नये प्रकार कहानियों में जान डाल देते हैं । इसके अतिरिक्त दैनिक बोलचाल की भाषा का स्वाभाविक प्रवाह सर्वत्र भिलेगा । यह जरूर है कि उर्दू शब्दों का प्रयोग काफी हुआ है । अमृत की भाषा ठेठ हिन्दुस्तानी है । भाषा की सरलता के कारण उनकी कहानियाँ सर्व-साधारण के लिए प्राज्ञ है । अंत में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा विकसित हो रही है । हमारे कहानीकार अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग हैं । कहानी के क्षेत्र में हम अमृत का स्वागत करते हैं । उनकी नयी आग से प्रज्वलित कहानियाँ सुखी और खुशहाल दुनिया के निर्माण में योग देंगी । इंसान को संघर्ष के समय हिम्मत और शक्ति प्रदान कर सकेंगी । युग का इतिहास उनकी कहानियों में भविष्य में भी इसी प्रकार यदि चित्र होता रहा तभी वे अपने युग के कहानीकार के रूप में देखे व समझे जायेंगे ।



काव्य, संगीत और
नृत्य में भावाभििव्यक्ति

आधुनिक-युग में 'कला' शब्द ने अपने प्रयोग का क्षेत्र प्राचीन संकीर्ण-परिधि से विमुक्त होकर अत्यन्त व्यापक बना लिया है। काव्य, संगीत और नृत्य इन तीनों का समावेश 'कला' के अन्तर्गत हो जाता है। यद्यपि भारतीय परम्परा के अनुसार काव्य को कला से बाहर माना गया है तथापि पद्य-रचना, समस्यापूति, नाटकों का अभिनय, छन्द का ज्ञान, पहेली, प्रतिमाला (अंथाक्षेरी: कथित पद्य के अन्तिम अक्षर से प्रारम्भ होनेवाला दूसरा पद्य पढ़ना) आदि साहित्य के तमाम मनोरंजक पक्ष इसके अन्तर्गत गिने गये हैं। ऐसी स्थिति में काव्य को कला से बाहर रखने का कोई अर्थ नहीं होता। भर्तृहरि के प्रसिद्ध वाक्य 'साहित्य संगीत कलाविहीनः' के अनुसार भी 'कला' शब्द दोनों साहित्य और संगीत के लिए प्रयुक्त मानना न्यायसंगत है। अतः काव्य, संगीत और नृत्य का उद्गम स्थान निश्चय ही एक है।

कला का उपयोगी और ललित या सौन्दर्यमूलक दो रूपों में वर्गीकरण किया गया है। उपयोगिता से अभिप्राय भौतिक सुख से और सौन्दर्य से अभिप्राय मानसिक सुख से है। यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक है, क्योंकि सौन्दर्य और उपयोगिता दोनों का पार्थक्य नहीं

आधुनिक साहित्य और कला

किया जा सकता। मानसिक सुख भौतिक-सुख पर ही आश्रित है। काव्य संगीत और नृत्य ललित कलाओं की श्रेणी में परिगणित हैं; किन्तु ये वर्तमान-युग में अनुपयोगिता की कोटि में भी नहीं आतीं। काव्य, संगीत और नृत्य का उपयोग समाज के सांस्कृतिक धरातल को समुन्नत करने के लिए किया जाता है और इस प्रकार वे केवल मनोरंजन की वस्तुएँ न होकर सामाजिक उपयोगिता की कोटि में भी आती हैं।

निःसन्देह आनन्द की अभिव्यक्ति कला से होती है। कला अमूर्त भावों को मूर्त करती है। लेकिन सभी कलाएँ एक ही श्रेणी की चीजें नहीं हैं। श्रेष्ठ कला के लिए वस्तु की सूक्ष्मता आवश्यक है। जिस कला की वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी वह उतनी ही श्रेष्ठ समझी जायेगी। हीगल (Hegel) के मतानुसार वही कला श्रेष्ठ है जिसमें बाहरी वस्तु अत्यधिक सूक्ष्म और आत्मा के भावों की अभिव्यक्ति अत्यधिक गहरी हो। आत्मा की अभिव्यक्ति कला की प्रमुख और कठिन समस्या है। आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बड़ी ऊँची और महत् वस्तु है। कला का लक्ष्य है भावानुभूति। भावों की अभिव्यक्ति जब सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होती है तब वह एक विशेष प्रकार के आनन्द को जन्म देती है। साहित्य, संगीत और नृत्य के साथ भावों का गुंथन इतना अधिक है कि वे बिना भावाभिव्यक्ति के निर्जीव, अप्रभावशाली और खोखली कलाएँ बनकर रह जायेंगी। भावों की आधार-शिला पर ही क्या साहित्य, क्या संगीत और क्या नृत्य सभी का भव्य प्रासाद खड़ा हुआ है। वे भाव ही होते हैं जो इन कलाओं के माध्यम से प्रकट होकर, मनुष्य ही क्या वनचर, गगनचर, जलचर, पशु-पक्षी तक इनके अधीन हो जाते हैं और अपने प्राणों तक को शिकारियों को अर्पित कर देते हैं। भाव प्राणिमात्र के हृदय पर प्रभाव डालते हैं। इन्हीं भावों की

काव्य, संगीत और नृत्य में भावाभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति पर कला की सार्थकता, उसकी सफलता व उसकी व्यापकता निर्भर करती है ।

भावों का सम्बन्ध रस-दशा से है । रस-निष्पत्ति के लिए भाव, विभाव और अनुभाव का उचित योग आवश्यक होता है । अनुभूतियों, मनोवेगों और भावनाओं का भी सम्बन्ध रसों से है । ये सभी तत्त्व रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं । इनकी अभिव्यक्ति जितनी तीव्र होती है उतनी ही श्रेष्ठ कृति का निर्माण होता है । आचार्य विश्वनाथ, (साहित्य दर्पणकार) जो रस सम्प्रदाय के अधिष्ठाता हैं, रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ । जिस प्रकार रस काव्य की आत्मा है, उसी प्रकार संगीत और नृत्य की भी । तीनों की आत्मा एक है । केवल बाहरी स्वरूप अथवा भाव-प्रकाशन की शैली में अन्तर है । काव्य शब्दों अर्थात् भाषा के द्वारा, संगीत विभिन्न राग-रागिनियों के द्वारा और नृत्य नाना शारीरिक भंगिमाओं के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति करते हैं । बिना इन साधनों का सहारा लिये भाव-प्रकाशन असम्भव है । भावों का और उनके अभिव्यक्ति-साधनों का सम्बन्ध एक दूसरे से इतना घनिष्ठ है कि ये साधन पढ़नेवाले या सुननेवाले या देखनेवाले को पृथक् अनुभव नहीं होते और कभी-कभी तो ये बाहरी साधन भावों के पीछे-पीछे दौड़ते दिखायी देते हैं ।

भावों की पूर्णता यद्यपि उनकी रस-दशा तक पहुँचने में है, पर, वे रस के आश्रित नहीं होते । रसों के लिए भावों का होना अनिवार्य होता है । अपूर्ण रस ही भाव हैं । इनका क्षेत्र बड़ा व्यापक है । मनुष्य के हृदय के समस्त विकार इसमें आ जाते हैं । स्थायी और संचारी भावों ने मनुष्य के हृदय-पक्ष की समस्त सीमाओं को घेर लिया है । भावों की उत्पत्ति के लिए आलम्बन और उद्दीपन की सत्ता को अस्वीकार नहीं

आधुनिक साहित्य और कला

किया जा सकता। बिना आलम्बन के भाव उत्पन्न हो सकते हैं, यह बात कल्पना के बाहर की चीज़ है। यह जरूर है कि एक ही आलम्बन समय-समय पर भिन्न-भिन्न भावों को उत्पन्न करे अथवा भिन्न-भिन्न लोगों के हृदयों में अलग-अलग भावों को जन्म दे, पर उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसा कि विलियम मेकडूगल (William Macdougall) ने लिखा है—In the presence of the same object, the emotional experiences of different persons may be different and even those of the same person on successive occasions may vary widely with changes in general conditions' ('An outline of Psychology', Page 35)।

अतः भावों की तीव्रता के लिए आलम्बन प्रधान उपकरण है। आलम्बन यदि ढंग का होगा तो उद्दीपन की सामग्री भी अपना पूरा-पूरा प्रभाव प्रकट कर सकेगी।

काव्य में भावों की अभिव्यक्ति मुख्य वस्तु है। काव्य का सीधा संबंध हृदय से होता है और भाव हृदय से ही उठते हैं और उसी में विलीन होते हैं। काव्य का भाव पक्ष जितना निखरा हुआ होगा, उतना ही वह प्रभावशाली बन सकेगा। काव्य के अन्य पक्ष जैसे कल्पना, विचार और शैली, बिना भाव-पक्ष के सुन्दर हुए, निरर्थक-से होते हैं। यह ही कारण है कि श्रेष्ठ विचारों, ऊँची कल्पनाओं और कलात्मक तराशों से भरा हुआ काव्य भाव-पक्ष की हीनता के कारण मन पर कोई प्रभाव नहीं डालता जब कि एक साधारण लोकगीत जो छंद शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि सभी दृष्टियों से अपूर्ण होने पर भी अपने भाव-पक्ष की अधिकता के कारण लोगों के हृदयों पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता

काव्य, संगीत और नृत्य में भावाभिव्यक्ति

है। जो काव्य भावों का धनी है वह पुराना नहीं पड़ता। उसके महत्त्व को समय का प्रवाह कम नहीं कर सकता। यही कारण है कि गीर्गी और प्रेमचंद की रचनाएँ मानव-मन को सदैव अनुरंजित करती रहेंगी। भले ही उनका युग बीत जाय अथवा उनके साहित्य में उठायी गयी समस्याएँ सुलझ जायँ। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने कविता की परिभाषा करते समय भावों को ही प्रधानता दी है—“Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings” वर्ड्सवर्थ के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने चाहे भाव को प्रधानता न दी हो पर उसके महत्त्व को किसी प्रकार कम नहीं किया है। कल्पनावादी, आलोचनावादी, चित्रवादी, प्रयोगवादी कोई भी भावों की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि काव्य में प्रज्ञात्मक शक्ति का कोई स्थान नहीं। प्रत्येक अनुभव में रागात्मक और प्रज्ञात्मक शक्तियाँ मिली रहती हैं। भावाभिव्यक्ति आत्मव्यंजनात्मक (Subjective) रचनाओं में अधिक सहज है। आत्मव्यंजनात्मक रचनाओं में तन्मयता भावों की अभिव्यक्ति में बड़ी सहायक होती है। छोटी-छोटी कविताओं और गीतों में भावों की बहुलता होती है। उनमें कोई रस नहीं होता। भाव रस-दशा तक नहीं पहुँच पाते, किन्तु फिर भी वे पाठकों को सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति कराते हैं। इसका मुख्य कारण भावों की तीव्रता व उनके प्रति कवि की तन्मयता ही है।

संगीत को आत्मा का नाद कहा गया है। विभिन्न राग-रागिनियों के द्वारा नाना भावों की अभिव्यक्ति इतनी मुखर हो उठती है कि जंगली पशु तक सब कुछ भूख से जाते हैं। संगीत अन्तःकरण का प्रतिविम्ब है। जैसा अन्तःकरण होगा वैसा ही संगीत होगा। राष्ट्रीय और व्यक्तिगत भावों का मुख्य सुर संगीत है। संगीत की पूर्णता गीत, वादन

आधुनिक साहित्य और कला

और नर्तन पर आश्रित है—‘गीतं वाद्यं च नर्तनञ्च त्रयं संगीतमुच्यते’ । संगीत का इतिहास मनुष्य का इतिहास है, आदिम युग से ही नहीं— उस समय से जब मनुष्य को भाषण तक का बोध नहीं हुआ था और वह मानव-मन के भावों का प्रकाशन मौन स्वरों से करता था । शेली (Shelley) ने जैसा कि लिखा है—“Heard melodies are sweet, but those unheard are sweeter”, आत्मा का अशब्द व असुर नाद तक उद्बलित कर देता है । भाव-प्रकाशन की प्रणाली संगीत में जरा जटिल है, क्योंकि उसका रचना-तंत्र अपने विशेष ढंग का है जिसका तात्त्विक विवेचन पृथक् विषय है ।

संगीत की तरह नृत्य भी आदिम मनुष्य से लेकर आज तक प्रत्येक जाति के जीवन के साथ मिला हुआ है । बर्बर जातियों और पशुओं तक में नृत्य अपने भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है । नृत्य सिखाया नहीं जाता । वह तो अन्तर के भावों की स्वाभाविक एवं नैसर्गिक अभिव्यक्ति है । भीलों व मयूरों ने नृत्य किसी से सीखा नहीं था । नृत्य प्राणी के जीवन के इतने निकट है कि कुछ नृत्यकार उसे कला न कह कर जीवन की ही संज्ञा देते हैं । भारतीय नृत्यकला अति प्राचीन है । भारतीय सभ्यता का हृदय ऋग्वेद की रचना के कुछ पूर्व माना जाता है । ऋग्वेद में नृत्य, वीणा-वंशी, मृदंग आदि का उल्लेख भारतीय नृत्यकला की संपन्नता का परिचायक है । भारतीय आचार्यों ने नृत्य के तीन विभाग किये हैं—नाट्य, नृत्त और नृत्य । अपने अस्तित्व को भूलकर अनुकार्य में लीन हो जाना नाट्य है । नृत्त के द्वारा ताल और लय, और नृत्य के द्वारा भाव-प्रदर्शन होता है ।

नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति चार साधनों से होती है—आंगिक वाचिक, आहार्य और सात्विक । आंगिक प्रणाली में मुद्राएँ आती हैं ।

काव्य, संगीत और नृत्य में भावाभिव्यक्ति

इसमें चेहरे के हाव-भाव एवं अंगों की तोड़-मरोड़ की प्रधानता रहती है। हाथों और आँखों का उपयोग होता है। मूक नृत्य के भाव प्रदर्शन के लिए तो मुद्राएँ ही होती हैं। शरीर की प्रत्येक हलचल से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। वाचिक प्रणाली में स्वर, वाणी, गायन तथा भाषा की अनुकृति होती है। आहार्य में वेशभूषा मुख्य है। अंग्रेजी में इसी को 'मेक-अप' कहा जाता है। वेश भूषा बर्बरता एवं सभ्यता की पहचान के लिए आवश्यक होती है। चरित्र-नायक के गुणों के प्रदर्शन के लिए आहार्य उपयोगी होता है। चौथी प्रणाली सात्विक है जिसमें सात्विक भावों का अनुकरण है। सात्विक भाव आठ माने गये हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु और वैस्वर्य। भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के अनुसार नृत्य के दो भेद शास्त्रकारों ने किये हैं—हास्य और तांडव। हास्य में मधुरता और तांडव में उग्रता रहती है।

भावों का सम्बन्ध काव्य से अधिक घनिष्ठ नृत्य से है। काव्य, संगीत और नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति अपने-अपने ढंग से होती है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अपने-अपने ढंग हैं। बिना प्रादेशिक विशेषताओं के अध्ययन के भावों की गहराई तक पहुँचना कठिन होता है। यह प्रादेशिकता नृत्य में सबसे अधिक है, तत्पश्चात् संगीत और काव्य का स्थान आता है। काव्यगत भावों की अभिव्यक्ति का क्षेत्र निःसंदेह संगीत और नृत्य से व्यापक है।



चित्रकला और जनता

कला जीवन की अभिव्यंजना है। चित्रकार रंगों और रेखाओं के द्वारा अपने और जगत् के मनोभावों को मूर्त रूप प्रदान करता है। चित्रकला का इतिहास अति प्राचीन है। प्रागैतिहासिक-युग से चित्रकला चिन्ह देखे जाते हैं। पत्थरों और शिलाओं पर खुदे हुए प्रागैतिहासिक-युग के चित्र आज भी प्राप्य हैं जिनके अध्ययन से युग के जीवन के संबंध में बहुत कुछ मालूम किया जा सकता है। मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास के मूल्यांकन की दृष्टि से ये चित्र बड़े उपयोगी हैं। वर्तमान युग में चित्रकला ने उन्नति ही नहीं की, वरन् अपने स्वरूप को भी स्थिर किया है।

प्रश्न यह है कि चित्रकला का जनता से क्या संबंध है? जन साधारण का उससे क्या हित होता है तथा उसके जीवन में चित्रकला का प्रवेश कहाँ तक संभव हो सकता है?

आज कला के दो वर्ग प्रमुख हैं—‘कला कला के लिए’ और ‘कला जीवन के लिए’। ‘कला कला के लिए’ के सिद्धान्त के मानने वाले कला को एक भव्य, स्वर्गीय, असाधारण व दुर्गम वस्तु समझते हैं और कलाकार को जन-साधारण से विलग स्थित करते हैं। उनके लिए कला का कोई

आधुनिक साहित्य और कला

सामाजिक कर्तव्य नहीं होता है। सामाजिक व नैतिक भावों को वे स्वीकार नहीं करते।

निश्चय ही ऐसी कला कभी स्वास्थ्यकर तथा ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकती। कलाकर कोई अजीब प्राणी नहीं होता। उसका सम्पर्क जन-साधारण तथा जन जीवन से सदा रहता है क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज का एक अविभाज्य अंग है। समाज से वह जीवन ग्रहण करता है। वह अपनी प्रतिभा तथा योग्यता के कारण जन-साधारण के भावों व विचारों का वाहक बन जाता है। अतः कलाकार को जनता से बहुत ऊँचा बताना अनुचित है। इससे कला का ह्रास होता है, उसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है और कलाकारों का एक नया वर्ग निर्मित हो जाता है जिससे 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थक कला को केवल दस प्रतिशत लोगों के बीच केन्द्रित कर देते हैं। इस सिद्धान्त का पोषक फ्रान्स रहा। भॉस्कर वाइल्ड, स्पिनगर्न जैसे कलावादियों ने इसका यूरोप में बड़ा प्रचार किया, लेकिन आज इस सिद्धान्त की निस्सारता प्रकट हो चुकी है और 'कला कला के लिए' के अनुयायी बहुत कम बचे हैं।

इसके विरोध में दूसरा वर्ग 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त के माननेवालों का आया जो कला को जीवन का प्रतिविम्ब मानता है। कला जब जीवन को स्पर्श करेगी तब निस्सन्देह वह जागृत शक्ति के रूप में हमारे सामने आयेगी। कला कोई हवाई चीज़ नहीं है कि उस तक पहुँचना दुरूह हो। वह तो जन-जीवन का ही एक अंग है। लेनिन के मतानुसार "कला जनता की वस्तु है। उसकी जड़ें मेहनतकश लोगों में गहरी जमनीं चाहिये। इसी प्रकार स्तालिन के कथनानुसार "रूसी कला-पद्धति समाजवादी यथार्थता की पद्धति है जिसमें कला श्रेष्ठ परिणति के रूप में प्रचुर मतवादी सामग्री के साथ सत्य का सामंजस्य

चित्रकला और जनता

होना चाहिए ।” सन् १९३० में रूस में कला-संघ का निर्माण हुआ जिसने कला का आधार समाजवादी यथार्थता घोषित किया और उसका उद्देश्य जन साधारण का मनोरंजन बताया । कलाकारों की दृष्टि जनता की तरफ मुड़ी और जनता ने उनकी भावनाओं को एक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया ।

कुछ कला-मर्मज्ञों का कथन है कि कलाकार जन-साधारण की तुलना में विकसित मनुष्य होता है । उसकी कला-कृति को समझने के लिए जनता को उसके स्तर तक उठना होगा अन्यथा कला जन-साधारण के लिए दुर्बोध ही बनी रहेगी । यह बात कुछ सत्य अवश्य है, पर, क्या जनता का स्तर स्वयं ऊँचा हो जायेगा ? क्या कलाकार का इस दिशा में कोई कर्तव्य नहीं है । जनता कलाकार के स्तर तक पहुँचे या कलाकार जनता के निकट आकर उसे ऊपर उठाये ? कलाकार का वैयक्तिक विकास अपूर्ण है यदि उसने जन-रुचि को परिष्कृत करने तथा जन-साधारण के विकास में योग नहीं दिया ।

भारतीय कला पद्धति का जीवन और जनता से घनिष्ठ संबंध रहा है । इस देश के कलाकारों ने जहाँ एक ओर विशुद्ध कला की साधना की है तो दूसरी ओर उसके उपयोग का भी अधिक-से-अधिक स्पष्ट स्वरूप हमारे सामने रखा है । प्राचीन भारत में कला का दृष्टिकोण धार्मिक था । वह सतो गुणी दृष्टि से देखी जाती थी । बौद्ध-युग में कला का प्रसार सबसे अधिक हुआ । भारतीय चित्रकला या मूर्तिकला का जो श्रेष्ठ भाग है उसका अधिकांश इसी युग की देन है । भारतीय कला का गौरव बौद्धकालीन चित्रकारों या शिल्पकारों की प्रतिभा तथा साधना है । इन चित्रकारों ने गौतम-बुद्ध तथा बौद्धदर्शन के चित्रों के निर्माण-द्वारा कलाकार का सामाजिक दायित्व निभाया था । बौद्ध-धर्म का प्रसार देश के बाहर चीन, जापान, सूदूर-पूर्व आदि स्थानों में हुआ; उसका श्रेय

आधुनिक साहित्य और कला

उस समय के चित्रकारों को है। बौद्ध-भिक्षुओं के साथ सदैव चित्रकार रहा करते थे। वे बौद्ध-भिक्षु विदेशों की भाषा से अपरिचित होने कारण धर्म का प्रचार तथा उसके दर्शन की व्याख्या करने में असमर्थ थे। यह काम चित्रकार करता था। तथागत तथा उसके दर्शन—संबंधी करुणा, विश्व-प्रेम, शान्ति आदि सिद्धान्तों को चित्रों-द्वारा विदेशों में समझाया गया और इस प्रकार बौद्ध धर्म फैलता गया। जातक कथाओं को भी इन चित्रकारों ने चित्रित किया। ये कथाएँ जितने प्रभाव के साथ तूलिका से अभिव्यक्त हो सकती हैं उतनी शब्दों द्वारा नहीं। अतः यह भारतीय परम्परा है कि कला जन्म-साधारण की वस्तु है, उसका सामाजिक उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय कलाकार अपना कला-धर्म निभाते आये हैं।

कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध हुआ करता है। प्रागैतिहासिक-युग के पत्थरों पर खचित चित्रों के द्वारा उस काल की स्थिति का अन्दाज हो जाता है। इन चित्रों में मनुष्य शिकारी के रूप में चित्रित किया गया है। उसके शिकार करने के औजारों के चित्र भी उनमें देखने को मिलते हैं। ये चित्र उस युग की सभ्यता का साफ-साफ निदर्शन कर देते हैं। बौद्ध-युग में कला धार्मिक जीवन से सम्बद्ध रही; क्योंकि वह युग धार्मिक था। आगे चलकर मुगलों के काल में कला का दृष्टिकोण राजस हो गया। कला बादशाहों के भोग-विलास की उत्तेजक सामग्री समझी गयी। इस युग में माना कि अकबर-जहाँगीर आदि अनेक कलाप्रेमी बादशाहों ने जन्म लिया और कला का बड़ा प्रचार रहा फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उसका दृष्टिकोण सामन्तो था। आज भी देशी-रियासतों में राजाओं व सरदारों के द्वारा कला का पोषण इसी दृष्टिकोण से हो रहा है। अतः यह युग भारतीय चित्रकला का ह्रास-युग

चित्रकला और जनता

कहा जा सकता है। कलाकारों का राजाश्रय में पलना तथा कला-केन्द्रों में राजाओं व उनके सरदारों की प्रवृत्तियों को खुराक पहुँचाना ही इसका प्रमाण है। कला केवल कुछ ही लोगों की वस्तु बन गयी। जन-साधारण से उसका सम्बन्ध बिल्कुल हट-सा गया।

वर्तमान-युग में इस देश के कलाकारों व चित्रकारों ने इस हास को समझा और अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। श्रवणीन्द्रनाथ ठाकुर ने प्राचीन भारतीय चित्रकला के भादशों को अपनाया। गुजरात के रविशंकर रावल ने भी स्थानीय प्राचीन कला पद्धति को पुनर्जीवित किया। यह सब होते हुए भी यह कदम उपयोगी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण जनता के किसी काम का नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान युग के चित्रकार अपने युग से प्रभावित हों। वे तात्कालिक समस्याओं, प्रश्नों तथा जीवन के वैविध्य को अपनी कला कृतियों के द्वारा व्यक्त करें, तभी तो आगे आनेवाली शताब्दियाँ आज के युग के जीवन को इन कला कृतियों के द्वारा समझने में समर्थ हो सकेंगी। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आज के कलाकार को प्राचीन कला-पद्धति का नितान्त बहिष्कार कर देना चाहिये। प्रश्न तो केवल प्रधानता का है। वर्तमान-युग के चित्रकार के सम्मुख अनेक विषय हैं जिन पर वह तूजिका चला सकता है, जैसे मनुष्य व समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याएँ, विभिन्न-प्रातों की जन-कला, संघर्ष-पूर्ण जीवन की क्षाँकियाँ, उद्बोधक प्राकृतिक दृश्य, जनता में साहस, आशा तथा विश्वास उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ आदि। यथार्थ जीवन के चित्रों के द्वारा ही वह सामाजिक क्रान्ति कर सकता है और समय का तकाजा भी यही है। भारतीय ग्रामों के उत्थान में उसकी कला महत्वपूर्ण भाग ले सकती है। वह जनता के

आधुनिक साहित्य और कला

आत्मबल तथा उसकी रचनात्मक शक्ति को जाग्रत कर सकता है। कलाकार के चित्र जब इस प्रकार जन-जीवन को स्पर्श करेंगे तभी 'कला जीवन के लिए' का सिद्धान्त सार्थक होगा और वह लेनिन के शब्दों में जनता की चीज बन सकेंगी।

रूसी कला की आलोचना करते हुए कुछ कला-आलोचक कहते हैं कि वहाँ के चित्रकारों का प्रेरणा-केन्द्र केवल स्तालिन है। रूसी कला प्रदर्शनी में स्तालिन के चित्रों की अधिकता देखकर उन लोगों ने अपना यह मत प्रकट किया है और इस प्रवृत्ति का मखौल उड़ाया है। माना कि व्यक्ति-पूजा उचित नहीं है लेकिन इसका कारण देश के श्रद्धाभाव पर निर्भर करता है। रूस के कलाकारों की तथा वहाँ की जनता की श्रद्धा स्तालिन के प्रति है, अतः वे स्तालिन के चित्रों को बनाते हैं। यह वही प्रवृत्ति है जो भारत में गौतम बुद्ध और गांधीजी के चित्रों के संबंध में कही जा सकती है। जिस प्रकार भारत को अपने इन महात्माओं के प्रति श्रद्धा है उसी प्रकार रूसी जनता को स्तालिन पर। आज भारतीय चित्रकार अपनी कला को तब तक अपूर्ण समझता है जबतक वह अपनी तूलिका से एक गांधी और एक तथागत का चित्र नहीं बना लेता। गांधी और बुद्ध उसकी चेतना में व्याप्त हैं, वे उसकी प्रेरक शक्ति हैं। अतः किसी भी कला-पद्धति की केवल आलोचना करने से समाज का भला नहीं हो सकता और न इस आधार पर कि अमुक सिद्धान्त विदेशी है, अतः त्याज्य है, हम प्रगति नहीं कर सकेंगे। विचार किसी एक देश की सम्पत्ति नहीं होते। वे तो मनुष्य-मात्र के हो जाते हैं। अतः जनता का स्तर ऊँचा उठाने के लिए कलाकारों को यह दृष्टिकोण अपनाना होगा। जन-जीवन की ओर उन्हें मुड़ना होगा, तभी वे अपने युग का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय-रत्ननालंकार

उपन्यास का उद्गम स्थान अति प्राचीन काल से चली आयी हुई कथा-कहानियाँ हैं। मनुष्य में यह एक आदिम प्रवृत्ति रही है कि वह सत्य अथवा काल्पनिक कथाओं को सुनने अथवा सुनाने में मनोरंजन अनुभव करता है। ये कथा-कहानियाँ उसकी कुतूहल वृत्ति को शांत करती हैं। कहना न होगा कि कथा-कहानियों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं मनुष्य-समुदाय। जैसे-जैसे मनुष्य की सामाजिक अवस्था में विकास होता गया, वैसे-वैसे इन कथा-कहानियों के ढंग में भी परिवर्तन होते गये। कुतूहल-वृत्ति की मात्रा आदिम मनुष्य में अधिक थी और फिर धीरे-धीरे वह कम होती गयी। आज का मनुष्य उन 'दैविक' अथवा प्रकृति संबंधी बातों से स्तम्भित नहीं होता जो किसी दिन आदिम मनुष्य को कुतूहल में डाल देती थीं। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान युग में बौद्धिकता ने मनुष्य की कुतूहल-वृत्ति को कम कर दिया है; अतः आज वे ही कथा-कहानियाँ समाज में प्रचलित हो सकती हैं जिनके पाँछे बौद्धिक धरातल है। उपन्यास वर्तमान समय में मनुष्य की इसी बौद्धिक क्षुधा को तृप्त करता है। वह मनुष्य के विकास के साथ-साथ विकसित होनेवाली कथा-कहानों की परम्परा का एक

आधुनिक साहित्य और कला

सुगठित रूप है। उपन्यास के शरीर विज्ञान पर विचार व्यक्त करते हुए श्री गुलाबराय एम० ए० लिखते हैं :

“उपन्यास में कौतूहल के साथ साथ बुद्धि-तत्व और भाव तत्व भी रहता है। उसमें जीवन की ही प्रतिच्छाया नहीं रहती, वरन् उसकी व्याख्या भी रहती है।”^१

अति प्राचीन-काल से चली आयी हुई कथा-कहानियों का उपन्यास से संबंध केवल कथानक के मौलिक रूप (Raw state) से है; उपन्यास के रचनातंत्र (Technique) अथवा उपन्यास के वस्तु-विन्यास से नहीं। रचनातंत्र के दृष्टिकोण से उपन्यास का प्राचीन कथा और आख्यायिकाओं से कोई संबंध नहीं है। उपन्यास साहित्य के अन्य रूपों की तरह नवीन युग की देन है। ‘उपन्यास’ शब्द संस्कृत का है। (उप = निकट, न्यास = रखना)। लेकिन संस्कृत-वाङ्मय में ‘उप-न्यास’ शब्द वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, और न आज के युग में उपन्यास कहलानेवाली रचना का ही कोई रूप संस्कृत में मिलता है।

प्रेमचंद आधुनिक कहानी की उत्पत्ति के संबंध में लिखने समय यही बात कहते हैं :

“हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिये कि उपन्यासों की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है, कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही।”^२

उपन्यास मानव-जीवन के कथारमक-चित्रण का नाम है। मनुष्य

१. साहित्य-संदेश (उपन्यास अंक) अक्टूबर-नवम्बर १९४०, पृ० ४७।

२. कुछ विचार। (पृ० २८)

औपन्यासिक रचनातन्त्र

में मानव रागों अथवा मनोवेगों के प्रति एक स्वाभाविक रुचि होती है । जब तक उसमें मानवी जीवन के प्रति यह रुचि बनी रहेगी तब तक उपन्यास की सत्ता अमिट है । विलियम हेनरी हडसन कहते हैं :

“मनुष्य में एवं मानवी भावों और क्रियाओं की विशाल चित्रावली में स्त्रियों और पुरुषों की सार्वकालिक और सार्वदेशिक रुचि हो उपन्यास के अस्तित्व का कारण है ।”^१

उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र है । उसका विस्तार जीवन की तरह ही बड़ा व्यापक है । उपन्यासकार जीवन को एक विशाल पृष्ठभूमि में दिखलाने की चेष्टा करता है । जे० बी० प्रीस्टले के मत से :

“यह (उपन्यास) जीवन का विशाल दर्पण है और इसका विस्तार साहित्य के किसी भी रूप से बहुत बड़ा है ।”^२

प्रेमचंद उपन्यास के इसी विषय-विस्तार के संबंध में ‘उपन्यास का विषय’ शीर्षक लेख में एक स्थल पर लिखते हैं :

-
1. “The Novel owes its existence to the interest which men and women everywhere and at all times have taken in men and women and in the great panorama of human passion and action.”

An Introduction to the study of Literature
(Chap. IV, page 168).

2. “It (Novel) is a large mirror of life, and has a far greater range than any other form of literature.” J. B. priestley—The English Novel —page 5.

आधुनिक साहित्य और कला

“अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व-शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजायश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है।”^१

यही कारण है कि उपन्यासों का महत्व दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। आधुनिक जटिल संसार की अभिव्यक्ति उपन्यास में ही अधिक सुगमता से संभव है।

औपन्यासिक रचनातंत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्वों का समावेश किया जाता है :

(१) वस्तु और वस्तु विन्यास ।

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण ।

(३) संवाद ।

(४) देश-काल ।

(५) भाषा-शैली, और

(६) दृष्टिकोण ।

उपर्युक्त तत्व लगभग प्रत्येक उपन्यास में मिलेंगे। यह अवश्य है कि किसी-किसी उपन्यास में कोई तत्व प्रधान होता है तो किसी-किसी में अन्य। इन तत्वों की पृथक्-पृथक् प्रधानता या अप्रधानता के अनुसार ही उपन्यास के प्रकारों का विभाजन किया जाता है। लेकिन उपन्यास के शरीर के गठन के लिए उपरिलिखित तत्वों का समावेश आवश्यक

औपन्यासिक रचनातन्त्र

होता है जो जाने-अनजाने उपन्यास में स्थान पा ही लेते हैं। संक्षेप में इन तत्वों की व्याख्या इस प्रकार है :

(१) वस्तु और वस्तु-विन्यास

उपन्यास में कथावस्तु एक आवश्यक तत्व है। वस्तु से अभिप्राय उन उपादानों (raw materials) से है, जिन पर उपन्यास का ढाँचा खड़ा किया जाता है। कुछ विचारक वस्तु को वस्तु-विन्यास से अधिक महत्व देते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है :

“कोई भी वस्तु सबसे पहले अपने उपादानों से हो जाँची जानी चाहिये। यदि वह जिन उपादानों से बनी है वे उपादान अच्छी जाति के हैं तो वस्तु अपनी रचना-पौन्दर्य के बिना भी काम की है।”^१

लेकिन उपादानों का ही सुंदर होना सब कुछ नहीं है। उपादानों के प्रस्तुत करने की कला भी कोई कम महत्वपूर्ण नहीं। कभी-कभी असुन्दर उपादानों को इतने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि उनकी कुरूपता दब जाती है। अतः वस्तु-विन्यास एक कला है जो कुशल कलाकार की अपेक्षा रखती है। उपर्युक्त उल्लेख का उद्देश्य अच्छे उपादानों के महत्व को कम करना नहीं है। निःसन्देह प्राथमिकता उपादानों को ही देनी चाहिये। कला और उपादान के संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने ‘उपन्यास’ शीर्षक लेख में आगे लिखते हैं :

“कला हो या न हो, उपादान अगर अच्छा है तो हम कुछ न कुछ पा जाते हैं। अच्छे उपादान के साथ अच्छी कला हो तब तो कुछ पूछना ही नहीं चाहते हैं।”^२

१. साहित्य संदेश (उपन्यास-अंक, अक्टूबर-नवम्बर १९४०) पृ० ४३।

२. साहित्य-संदेश (उपन्यास-अंक, अक्टूबर-नवम्बर १९४०) पृ० ४३

आधुनिक साहित्य और कला

औपन्यासिक वस्तु का संघटन विभिन्न घटनाओं के क्रमिक विकास पर आधारित है। मुख्य बात सामग्री चुनने की आती है। उपन्यासकार समग्र जीवन की घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकता। उसे सम्पूर्ण जीवन में से केवल कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का ही संग्रह करना होगा, अन्यथा उसकी रचना बड़ी विस्तृत व बोझिल हो जायगी। जीवन में सभी आकर्षक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य का जीवन बड़ा श्रवपायु है। उपन्यासकार पूरे जीवन-चरित्र को समेट कर न तो लिखने का अवकाश ही पा सकता है और न उसको पढ़ने की पाठक से अपेक्षा ही की जा सकती है। विषय-सामग्री के चुनाव के संबंध में श्री गुलाबराय लिखते हैं :

“...नहीं तो बारह वर्ष की व्यापक कथावस्तु के पढ़ने में बारह ही वर्ष लगे। उसमें अनावश्यक-आवश्यक की छूट-फटक करनी पड़ती है। उपन्यास के कथानक में तो फल की ओर अग्रसर होनेवाली या पाठकों के हृदय में विशेष रुचि उत्पन्न करने वाली विशेष-विशेष घटनाएँ ही आती हैं। वे चाहे परस्पर सम्बद्ध न भी हों किन्तु उनके लिए परस्पर संगत होना अत्यन्त आवश्यक है।”^१

अतः उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की केवल उन्हीं अनुभूतियों का संचय करे जो उसके मन्तव्य के लिए सहायक हों और अन्य बातों को छोड़ दें, तभी वह पाठकों के मन को अपनी कृति की ओर आकर्षित कर सकेगा।

समय का बन्धन और आकर्षक घटनाओं के चुनाव के अतिरिक्त प्रेमचंद ने इस संबंध में पाठक की कल्पना को भी बड़ा महत्व दिया है। अपने ‘उपन्यास’ शीर्षक लेख में उनके विचार इस प्रकार हैं :

१. साहित्य-संदेश (उपन्यास-अंक, अक्टूबर-नवम्बर १९४०) पृ० ४९

औपन्यासिक रचनातन्त्र

“उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानों का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिये। कहानी या उपन्यास में पाठक को कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी।”

उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा एक निश्चित योजनानुसार लिखता है। उसकी कथा जीवन से सम्बन्धित रहती है। जीवन से संबंध रखने के कारण कुछ आलोचक कथा की इस पूर्व-योजना को उचित नहीं समझते; क्योंकि जीवन किसी बँधी हुई योजना के अनुसार आगे नहीं बढ़ता। इसी कारण आधुनिक अतिथथार्थवादी उपन्यासों में कथावस्तु का महत्व काफी कम हो गया है। कार्ल एच. प्रेवो कथावस्तु के महत्व के घट जाने के संबंध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं :

“अनेक कारणों से आधुनिक उपन्यास ने कथावस्तु के महत्व को कम कर दिया है। एक ओर तो वह यथार्थ को ओर अग्रसर होता है और कथानक के विस्तार को अनुभव के प्रतिकूल समझता है तो दूसरी ओर चरित्र अथवा स्वभाव पर दल देकर और व्यक्तित्व एवं वैयक्तिक

आधुनिक साहित्य और कला

विशेषताओं पर विश्वास रखके उसने वस्तु-रचना के कष्टदायी व्यापार को दूर कर दिया है :”^१

जो हो, इसमें सदेह नहीं कि वस्तु उपन्यास के शरीर निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य करती है। जीवन की विष्टृद्धता बढ़ जाने के कारण वस्तु को एक निश्चित योजना में अंतर आ सकता है, पर उसकी सत्ता को हटाया नहीं जा सकता।

कथावस्तु का वास्तविक जीवन से सम्बद्ध होना अनिवार्य है। उसमें कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। कथा की घटनाएँ एवं उनका विकास इस प्रकार हो कि पढ़ने वाले को अर्थार्थ प्रतीत न हों, अर्थार्थ उपन्यास का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा। हडसन के शब्दों में:

“उसे (कथावस्तु को) स्वाभाविक रीति से विकसित होना चाहिये, और वह प्रत्येक कृत्रिमता से मुक्त हो। उसे विकसित करने के

1. “The Modern novel for various reasons, minimizes the importance of plot. On the one hand it follows the naturalistic lead and considers the elaboration of plot false to experience. On the other, with its emphasis upon character or whimsey, and its reliance upon charm and mannerism, it avoids the painful business of plot construction”

‘The Technique of the Novel’ by Carl H. Crabo. pages 29 & 30.

औपन्यासिक रचनातन्त्र

साधन इतने विश्वसनीय हों कि हम उन्हें उन परिस्थितियों में मन से स्वीकार कर सकें”^१

लेकिन यह सब होते हुए भी उपन्यास की कथा नितान्त वास्तविक भी नहीं हो सकती। उपन्यासकार बहुत सी बातें अपनी ओर से भी जोड़ता है, और उसे जोड़नी चाहिये, पर वे इस प्रकार हों कि समझदार पाठक को अस्वाभाविक न लगे। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उपन्यास जीवन-चरित्र (Biography) बन जायगा। उपन्यास में कल्पना और सत्य का एक संतुलित सामञ्जस्य होना चाहिये। यह निर्विवाद है कि उपन्यास सत्य के अधिक निकट हो और कल्पना भी ऐसी हो कि पाठक उसकी वास्तविकता में जरा भी संदेह न कर सकें। प्रेमचंद औपन्यासिक वस्तु में कल्पना और सत्य के समावेश के संबंध में लिखते हैं —

“इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है। पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अंत स्वाभाविक

-
1. “It should seem to move naturally, and be free from any appearance of artifice, and the means used in working it out should be such as we are willing to accept, in the circumstances, as at least credible.”

‘An Introduction to the study of Literature by William Henry Hudson, Page 186.

आधुनिक साहित्य और कला

होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं।”^१

प्रेमचंद इसके आगे औपन्यासिक वस्तु के भविष्य के संबंध में लिखते हैं—

“लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वाँग से संतुष्ट न होगा। यो कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छोटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो।”^२

जीवन-चरित्रात्मक उपन्यास लिखे जा सकते हैं, पर उस दशा में उनका क्षेत्र सीमित हो जायगा; जैसे प्रेमचंद स्वयं कहते हैं—

“तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं जिन्हें बहुत से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त है।”^३

प्रेमो औपन्यासिक वस्तु में जीवन का चित्रण स्वाभाविक अथवा वास्तविक और प्रतीकात्मक रूप के समानान्तर करते हैं।

“उपन्यासों में जो जीवन चित्रित होता है वह चाहे कितने भी महत्व का हो, कभी भी ज्यों का त्यों घटना, चरित्र एवं भाषण का लिपिबद्ध प्रतिरूप नहीं हो सकता। उसमें वास्तविकता से बहुत कुछ निकट की समानता मिलती है, यद्यपि विभेद की मात्रा भी स्पष्टतया

१ कुछ विचार ... पृष्ठ ५६

२ कुछ विचार ... पृष्ठ ५६

३ कुछ विचार ... पृष्ठ ६६

औपन्यासिक रचनातन्त्र

अधिक होती है। प्रत्येक उपन्यास जीवन का शाब्दिक चित्र न होकर उसका प्रतीक होता है और उपन्यास का क्षेत्र एक ओर परियों की कथा, रोमांचकारी कहानियों अथवा दृष्टांत रूपकों से लेकर दूसरी ओर अत्यधिक नीरस यथार्थ चित्रण तक फैला हुआ है।” ३.

वस्तु की शरीर-रचना में इस बात पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाय कि उसमें दैनिक एवं असाधारण व्यापारों का आवश्यक अथवा अनुपयुक्त स्थलों का समावेश न हो। यह माना कि जीवन में अनेक घटनाएँ आकस्मिक रूप से घटित होती हैं, किन्तु मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आकस्मिक घटनाएँ उपन्यास में आयें ही नहीं, वरन् यह कि अमुक आकस्मिक घटना का समावेश जिस स्थल पर किया गया है;

-
3. Life as depicted in the novel can never, however great the effort, be wholly actual, wholly a literal transcript of incident, character and speech. It is a more or less close analogy to the actual, though the range of divergence therefrom is obviously great. Every novel is symbolic of life rather than literary descriptive of it, and the scale of fiction is as wide as from the fairy tale the romance or the allegory at one extreme to the most prosaic naturalism at the other.”

The technique of the Novel by Carl H. Grabo — Page 163.

आधुनिक साहित्य और कला

वहाँ कथा को इच्छानुसार मोड़ने का इरादा तो नहीं है। आकस्मिक मृत्यु, स्वप्न, भविष्यवाणी आदि का उपन्यास को वस्तु में समावेश एक दक्ष लेखक की अपेक्षा रखता है। उपन्यास में इस तरह के व्यापारों को कम से कम आना चाहिये। श्रेष्ठतम उपन्यासों में भी कहीं-कहीं आकस्मिक घटनाएँ मिलती हैं, पर उनको इस सुदूर ढंग से रखा जाता है कि कट्टर से कट्टर बुद्धिवादी तक उन्हें अस्वाभाविक नहीं समझता, क्योंकि वे जीवन के अधिक निकट होते हैं। हम उन्हें चारों ओर और कभी-कभी तो स्वयं अपने जीवन में भी अनुभव करते हैं। हाँ, असाधारण व्यापारी को उपन्यास में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। इस संबंध में अलफ्रेड ने बड़ी अच्छी बात कही है।

“एक बार कुछ प्रारम्भिक बातें मान लेने पर आगे जो कुछ घटित हो वह इस प्रकार हो कि समझदार पाठक की बुद्धि की सम्भावना के प्रतिकूल न पड़े। स्पष्ट रूप से ऐसे मामलों में सत्य कथा से विचित्र होता है। जीवन दुर्घटनाओं और आश्चर्यजनक व्यापारों से भरा हुआ है जिसका उपन्यासों में समावेश करने पर सत्य के आकांक्षी हठी पाठकों की ओर से विरोध का तूफान खड़ा हो जाता है। अच्छे उपन्यास काव्योचित सत्य या उच्चतर सम्भावनाओं की दुनिया में विचरते हैं, जो एक सुव्यवस्थित प्रदेश है जहाँ घटनाओं का आभास उनके होने से पहले ही हो जाता है, जहाँ स्त्री और पुरुष—जैसी उनसे अपेक्षा की जाती है—उसी प्रकार क्रिया कलाप करते हैं और फिर भी उनमें भाग्य संबंधी, असाधारण और अतिशय का स्वागत किया जाता है, जहाँ तक वह पूर्व स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार होते हैं।” १.

-
1. Initial assumptions once being granted, everything must follow in such fashion as not to

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

उपन्यास की कथा का रोचक होना भी जरूरी है। यदि कथा रोचक नहीं हुई तो पाठक का मन उसमें रम नहीं सकता। सामाजिक के मन पर उपन्यासकार के उद्देश्य का प्रभाव कथा के द्वारा ही सबसे अधिक पड़ता है। यदि उसमें रोचकता नहीं होगी तो लेखक का प्रयत्न असफल सिद्ध होगा। प्रेमचंद इसी रोचकता के संबंध में एक स्थल पर लिखते हैं :

offend the intelligent reader's senses of probability. In such matters, obviously, truth is stranger than fiction. Life is full of accidents and surprises which, introduced into novels, would arouse a storm of protest from the very readers who are stricklers for truth higher probability, a well ordered region where events are anticipated sometime before they happen, where men and women act as people of their sort might be expected to, and yet where the weird, the supernatural, and the extravagent are welcomed cordially so long as they proceed according to accepted programme."

—'Typical froms of English Literature,

by Alfred H. Upham, Ph. D. Page 187.

आधुनिक माहित्य और कला

‘उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट संबंध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गयी हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास को दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उस आनन्द में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार लाने चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लॉट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों।’^१

मराठी के उपन्यासकार श्री ना० सी० फडके ने कथावस्तु की रोचकता के लिए एकसूत्रता (अर्थात् ऐक्यता का भाव) को महत्व दिया है :

‘कथावस्तु में एकसूत्रता होनी चाहिये, अर्थात् तदन्तर्गत (कथावस्तु के अन्तर्गत) विभिन्न घटनाएँ एक साथ मिल कर पाठक के मन पर एक ही प्रभाव डालें।’^२

श्री ना० सी० फडके ने कथावस्तु के लिए जिज्ञासा, उत्कंठा और विस्मय आवश्यक तत्व बताये हैं :

१. कुछ विचार—पृष्ठ ५१।

२. ‘कथानकास एकसूत्रता असली पाहिजे याचा अर्थ असा, की त्यांतील सर्व प्रसंगांता मिळून वाचकाच्या मनावर एक आघात झाला पाहिजे।’ ‘प्रतिमा-साधन’ पृष्ठ १२१।

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

“प्रत्येक ललित-कथा (कथावस्तु) जिज्ञासा, उत्कंठा और विस्मय इन तीन भावों के उत्कर्ष पर निर्भर रहती है ।”^१

कथावस्तु के आधार पर उपन्यासों के दो भेद किये गये हैं :

(१) निरवयव कथावस्तु के उपन्यास ।

(Novels of Loose plot)

(२) सावयव कथावस्तु के उपन्यास ।

(Novels of organic plot)

निरवयव कथावस्तु के उपन्यासों में वस्तु का संघटन शिथिल रहता है । घटनाओं का घटाटोप-सा रहता है । आपस में घटनाओं का संबंध टूटा-सा रहता है । कोई तर्क-संगत घटनाएँ एक दूसरे को आगे नहीं ढकेलती । सावयव उपन्यासों में कथावस्तु सुगठित एवं व्यवस्थित रहती है । उसकी प्रत्येक घटना अंतिम परिणाम को ओर अग्रसर होती है । उसमें किसी घटना का निरर्थक समावेश नहीं किया जाता ।

विस्तार के अनुसार भी कथा के दो भेद किये गये हैं :

(१) एकार्थ या शुद्ध (Simple)

(२) संकुल (Compound)

जिस उपन्यास में केवल एक ही कथा हो उसे एकार्थ या शुद्ध कथावस्तु का उपन्यास कहेंगे और जिस उपन्यास में दो या दो से अधिक कथाएँ साथ-साथ चलें उसे संकुल कथावस्तु का उपन्यास कहा जायगा ।

१. “जिज्ञासा, उत्कंठा आणि विस्मय या तीन भावनांवर प्रत्येक सरस ललित कथा आधारलेली असते ।” ‘प्रतिमा-साधन’ पृष्ठ १२८ ।

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण

कथावस्तु के पश्चात् उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व चरित्र-चित्रण है। उपन्यास में चरित्र का अर्थ आचरण शास्त्र में समझा जाने वाला धर्म नहीं है। साहित्य के अन्तर्गत चरित्र का अर्थ मानव पात्रों का चित्रण है जिसका आधार मनुष्य के राग व मनोवेग हैं। अतः पात्रों के जीवन पर उपन्यास का चरित्र-चित्रण निर्भर करता है।

उपन्यासकार को प्रत्येक पात्र के चरित्र से पहले से ही अवगत होना आवश्यक है, तभी वह उन पात्रों के जीवन-संघर्षों, मनोवेगों, विचारों और क्रिया-कलापों का उचित लेखा-जोखा दे सकेगा। प्रत्येक पात्र के व्यक्तिगत और बहिर्गत जीवन का सूक्ष्म अध्ययन उसके लिए अनिवार्य हैं। दूसरे उपन्यासकार को जीवन की उन स्थितियों से भी परिचित होना आवश्यक है जिन्होंने उसके पात्रों के मानसिक जगत का निर्माण किया है। राफ फॉक्स के शब्दों में—

“उपन्यासकार किसी भी वैयक्तिक जीवन की गाथा नहीं लिख सकता जब तक उसमें समग्र-जीवन की सतर्क दृष्टि न हो। उसे यह जानना आवश्यक है कि पात्रों के वैयक्तिक संघर्षों से, किस प्रकार, उसके अन्तिम परिणाम निकलते हैं। इसके लिए उसे यह भी जानना चाहिये कि जीवन की वे कौन सी विभिन्न स्थितिबाँ हैं जिन्होंने उन व्यक्तियों को, जैसे वे हैं, बनाया है।”^१

1. The Novelist cannot write his story of the individual fate unless he also has this steady vision of the whole. He must understand how his final result arises from the individual conflicts of his characters, he must in turn understand what are

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

उपन्यास में पात्रों की संख्या-सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती । श्रेष्ठ उपन्यास में भी पात्रों की संख्या पचास-साठ तक पहुँच जाती है । लेकिन पात्र बहुत अधिक नहीं होने चाहिये । उपन्यास के क्षेत्र की विशालता को देखते हुए पात्रों की संख्या अधिक भी हो तो अखरती नहीं है । उपन्यास में अधिकांश पात्र पथिकों के समान आते हैं । वे केवल कथानक को गति देकर अथवा वातावरण में रंग भरकर चले जाते हैं । पात्रों की संख्या उपन्यास के विषय और विस्तार पर भी निर्भर है । मुख्य प्रश्न उपन्यास में नायक का है, क्योंकि नायक ही अधिकांशतः उपन्यास का केन्द्र होता है । नायक और नायक के निकट सम्पर्क रखने वाले पात्रों के सम्बन्ध में ही उपन्यासकार की विशेष रुचि होती है । ऐसे उपन्यासकारों को, जो चरित्र-चित्रण को प्रधानता देते हैं, नायक के चित्रण में विशेष जागरूक रहना पड़ता है । प्रेमचंद ने औपन्यासिक चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत पाठक और पात्रों के बीच में आत्मीयता के भाव उत्पन्न करना प्रधान औपन्यासिक-धर्म बताया है :

“यह जरूर नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों । हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं । हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिये जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो । सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में

the manifold conditions of lives which have made each of those individuals what she or he is.”

—The Novel and the People by Ralph Fox,
Page-15 & 16.

आधुनिक साहित्य और कला

उन्होंने भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है। उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।”^१।

अतः पात्रों की मुख्य विशेषता उनकी सजीवता है। तभी पाठक और पात्रों के बीच भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। पात्र इसी दुनिया के होने चाहिये। उपन्यासकार को अपना काल्पनिक सृष्टि में ऐसे ही पात्र खड़े करने चाहिये जो वास्तविक मनुष्यों के समान अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में कार्य करें। उनमें असाधारणता अथवा अलौकिकता नहीं आनी चाहिये, अन्यथा या तो वे अत्यधिक व्यक्तिवादी हो जायेंगे या किसी दूसरी दुनिया के, और पाठकों के मनोजगत् से उनका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

माना कि पात्रों की सृष्टि उपन्यासकार स्वयं करता है, वह अपने उपन्यास के पात्रों का जनक है, पर पात्र निर्जीव नहीं होते। उनका अपना व्यक्तित्व होता है। उपन्यासकार उन्हें अपना इच्छानुसार हिला-डुला नहीं सकता। पात्र उपन्यास में एक सजीव शक्ति होते हैं। वे कठपुतली की तरह नचाये नहीं जा सकते। उनकी स्वतन्त्रता छीन लेने पर उपन्यास का महत्व घट जाता है। पात्र वही काम करे जैसा कि उन परिस्थितियों में कोई भी उसी श्रेणी और संस्कार का व्यक्ति कर सकता है। पात्रों के इसी स्वाभाविक चित्रण के सम्बन्ध में प्रेमचन्द लिखते हैं :

“विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात् पाठक और लेखक दोनों इस विषय से सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि

इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिये था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा।”^१.

प्रेमचंद ने चरित्र-परिवर्तन के संबंध में काफी जोरदार शब्दों में लिखा है। वे प्रत्येक चरित्र के परिवर्तन में विश्वास रखते थे। स्थिर पात्रों के उपन्यास उनकी दृष्टि में उच्छकोटि के नहीं माने जाने चाहिये। लेकिन यह स्मरण रखना है कि प्रेमचंद ने स्वाभाविकता के साथ चरित्र-परिवर्तन पर बल दिया है। चरित्रों के विकास के सम्बन्ध में वे लिखते हैं:

“उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्टता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते, बल्कि “उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त और अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़नेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिये, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमज़ोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था, उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो तो वह असफल चरित्र है।”^२.

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के दो प्रकार अथवा शैलियाँ प्रचलित हैं:

१. कुछ विचार पृष्ठ ५४

२. कुछ विचार. पृष्ठ ५४.

आधुनिक साहित्य और कला

(१) विश्लेषणात्मक

(२) रूपकात्मक

विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण में लेखक पात्रों के विचारों, भावों, प्रवृत्तियों, आदतों आदि का विश्लेषण करता है और स्वयं ही उनके सम्बन्ध में निर्णायक रूप से स्थल-स्थल पर अपने विचार व्यक्त करता है।

लेकिन रूपकात्मक प्रणाली में ऐसा नहीं होता। उसमें लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं बोलता। वह परिपाश्वर्य में रहता है। पात्र स्वयं अपने चरित्र की झलक देते हैं। यह उनके कार्यों और संवादों द्वारा सम्पन्न होता है। पात्र अपनी सबलताओं और दुर्बलताओं को स्वयं अनावृत करते हैं। आधुनिक उपन्यासों में रूपकात्मक प्रणाली विशेष रूप से प्रचलित है और यह है भी अधिक मनोवैज्ञानिक।

मराठी उपन्यासकार ना० सी० फडके ने चरित्रांकन की दो पद्धतियों का उल्लेख किया है—

(१) साक्षात् पद्धति (प्रत्यक्ष)

(२) प्रतिविम्ब पद्धति (परोक्ष)

“साक्षात् पद्धति में लेखक स्वयं देखता और सुनता है और जो कुछ वह प्रत्यक्ष देखता व सुनता है, उसे अक्षरशः पाठकों के सम्मुख रख देता है।

प्रतिविम्ब पद्धति में लेखक साक्षात् वस्तु की ओर संकेत नहीं करता, वरन् वह पाठकों से कहता है, ‘यह देखिये, इस वस्तु का प्रतिविम्ब अमुक व्यक्ति के (पात्र के) स्वभाव में उभरा हुआ है।’^१

१. “साक्षात् पद्धति या पद्धतीत लेखक साक्षात् पाहात ऐकत असतो, व जें दिसेल व ऐकूं येईल ते सरल वाचका पुढे मांडीत असतो. पृ. १३५.

(३) संवाद

संवादों द्वारा उपन्यासकार कथा का विकास और पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। पात्रों के माध्यम से संवादों के द्वारा कभी-कभी वह अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या भी करता है। सुंदर संवादों द्वारा उपन्यासकार पाठकों को अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट कर सकता है। अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए संवाद बड़े चुस्त, सीधे और धारा-प्रवाह होने चाहियें।

संवाद प्रसंगानुकूल और स्वाभाविक हों। दैनिक-जीवन में मनुष्य जिस प्रकार वार्तालाप करते हैं, उपन्यासों में भी वैसे ही संवाद रखें जायें। संवादों की स्वाभाविकता का संबंध उनके पात्रों के मानसिक अथवा वैज्ञानिक धरातल के अनुकूल होता है। जिस कोटि का पात्र हो, उसके मुख से वैसी ही भाषा और वैसे ही विचार व्यक्त करवाने चाहिये, अन्यथा स्वाभाविकता को धक्का लगेगा। पात्र जब स्वयं बोलते हैं तब उपन्यासकार के निजी विचारों का और भाषा का स्थान गौण हो जाता है। उसे अपने विचारों की प्रेक्षणीयता के लिए उन विचारों के अनुरूप पात्रों का सृजन करना पड़ेगा, तभी वह उन विचारों को संवादों का रूप दे सकेगा। प्रेमचंद के विचार, इस संबंध में, बड़े महत्व के हैं। संवाद और भाषा के संबंधों पर वे कहते हैं—

“हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में करायी जाती है मानों लेखक खुद लिख रहा है। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हों भिन्न-भिन्न जातियों की ज़बान पर उसका रूप कुछ-न-कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और एंग्लो-इन्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन यह अपवाद

आधुनिक साहित्य और कला

है, नियम नहीं, पर ग्रामीण बातचीत हमें दुबिधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा दिल्ली के आसपास का आदमी समझ ही न सकेगा।”^१।

संवाद अनावश्यक एवं अनर्गल भी नहीं होने चाहियें। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी चीज उनकी सरलता है। उपन्यास कोई शास्त्र नहीं होता। उसमें किसी गम्भीर विषय का विवेचन अपेक्षित नहीं है। अतः रमणीयता संवादों की पहली शर्त है। बड़े-बड़े व दार्शनिक विचारों से बोझिल संवाद उपन्यास को अरुचिकर बना देते हैं। संक्षेप में हडसन के शब्दों में कहा जा सकता है:

“कार्य-कलापों से भांगिक संबंध होने के अतिरिक्त संवाद स्वाभाविक, उपयुक्त एवं नाटकीय होने चाहियें, जिसका अर्थ यह है कि वे बोलने वाले के व्यक्तित्व के अनुरूप, जिस परिस्थिति में वे कहे जाते हैं उसके अनुकूल और सरल, ताज़े, स्पष्ट और रुचिकर हों।”^२।

प्रतिविम्ब पद्धति या पद्धतीत लेखक सरल वस्तूकडे बोट दाखवीत नाहीं तर वाचकांस तो म्हणतो, ‘ते पहा त्या वस्तू चे अमक्या व्यक्ति स्वभावांत उठलेलें प्रतिविम्ब।’ पृ० १३६.

‘प्रतिमा-साधन’ ले० ना. सी. फडके

१. कुछ विचार. पृष्ठ ५५.

1. “Beyond having this organic connection with the action, dialogue should be natural, appropriate and dramatic which means that it should be in keeping with the personality of the speakers; suitable to the situation it occurs, and easy, fresh, vivid and interesting” page 204.

‘An Introduction to the study of Literature’
—Hudson.

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

उपन्यास में संवाद ही संवाद न हों। नाटक और उपन्यास में यही मुख्य भेद है। उपन्यास जीवन की व्याख्या भी करता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना पर उपन्यासकार को अपनी टिप्पणी देनी चाहिये। ऐसा करने पर घटना बढ़ी मर्मस्पर्शी हो जाती है। लेकिन अधिक संवाद वाले उपन्यास ही श्रेष्ठ समझे जाते हैं। लेखक को अपना वक्तव्य एक संकुचित सीमा तक रखना चाहिये।

प्रेमचंद के मतानुसार उपन्यास में आने वाले प्रत्येक संवाद का कोई न कोई प्रयोजन होना चाहिये—

“वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को, जो किसी चरित्र के मुँह से निकले, उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिये।”^१

(४) देश-काल

देश-काल से अभिप्राय उपन्यास के अन्तर्गत वर्णित स्थान और समय से है। देश-काल में आचार-विचार, रीति-नीति, चाल-ढाल, रहन-सहन, प्राकृतिक पृष्ठभूमि (Natural Background) आदि सम्मिलित हैं। देश-काल के दो भेद किये गये हैं:

(१) समाजगत, और

(२) भौतिक

समाजगत से तात्पर्य उच्च, मध्य अथवा निम्न वर्ग के जीवन से है। उपन्यास में जीवन की दो विभिन्न धाराएँ प्रायः पायी जाती हैं। चाहे वे

१. कुछ विचार, पृष्ठ ५५.

आधुनिक साहित्य और कला

मजदूर और पूँजीपति, प्राचीन रुढ़िग्रस्त जर्जर समाज और नवीन सामाजिक मूल्य, नारी और पुरुष आदि किसी भी रूप में हों। उपन्यास में जिस समाज का चित्रण किया जाता है उसके आचार-विचार, रीति-नीति आदि का उपन्यासकार को बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में यह तत्व बड़े महत्व का होता है।

देश-काल सम्बन्धी न्यून जानकारी के कारण कभी-कभी रचनाएँ बड़ी हास्यास्पद हो जाती हैं। लेखक को इस दिशा में विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता है। उसे ऐसे किसी भी देश अथवा काल का चित्रण नहीं करना चाहिये जिसका उसे अनुभव न हो। यह अनुभव कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्तिगत अनुभव हो। हाँ, व्यक्तिगत अनुभव से रचना में निखार आ जाता है; वह अधिक प्राणवान् हो जाती है। देश-काल सम्बन्धी बातें सामाजिक विषयों पर लिखी पुस्तकों से प्राप्त हो सकती हैं। आधार पाते हो लेखक अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा कार्य-चित्रण कर सकता है। प्रेमचंद, हेनरी जेम्स का उदाहरण देते हुए लिखते हैं :

“कल्पना के लिए आधार अवश्य चाहिये। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उसके यह कहने में कुछ भी औचित्य नहीं है कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक-संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—‘आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला ? (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखायी पड़ते)। मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक ही बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और

बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कला अपना विशाल भवन निर्माण करती है।”^१।

भौतिक-वर्णनों के अन्तर्गत व्यक्तियों, वस्तुओं और प्रकृति का वर्णन आता है। प्राकृतिक-संविधान कृति को अधिक मार्मिक एवं जीवन की विशालता को अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। यह वाह्य दृश्य-विधान उपयुक्त स्थलों पर ही होना चाहिये। इसके अनुपयुक्त स्थल-प्रवेश से कथा के प्रवाह में रुकावट आती है। दूसरे ये दृश्य-विधान अधिक लम्बे न होने चाहियें। निरर्थक विस्तार से भी पाठक का सम्बन्ध मूल कथा से छूट जाता है। इनका मुख्य प्रयोजन उपन्यास में शक्ति, गाम्भीर्य और सौंदर्य को श्रुति करना है। प्राकृतिक दृश्य-विधान कभी भी उपन्यास के मूल उद्देश्य को दबाकर उभरना नहीं चाहिये। उनका स्थान गौण रहता है।

(५) भाषा-शैली

उपन्यासकार का कर्तव्य-कर्म केवल रोचक कहानी लिख देना ही नहीं है, वरन् उसे अपने पात्रों के आंतरिक जीवन की झोंकी को भी चित्रित करना होता है। ऐसी स्थिति में उसे नाना शैलियों का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन उपन्यासकार को अति आलंकारिक एवं काव्यात्मक शैली से बचना चाहिये, क्योंकि शैली के लिए उपन्यास नहीं लिखा जाता।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहले तो भाषा में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। उप-

आधुनिक साहित्य और कला

न्यास में भाषा के प्रयोग करना उपन्यास-कला के विरुद्ध है। दूसरे प्रत्येक पात्र के शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक स्तर के अनुसार विभिन्न भाषा-रूपों का समावेश करना चाहिये। इस प्रकार की भाषा से कथा की रोचकता में चार चाँद लग जाते हैं।

उपन्यास की भाषा क्लिष्ट न हो। शब्दाढम्बर से कोई रचना प्रभावोत्पादक नहीं बन सकती। प्रभावोत्पादकता और सजीव रचना के लिए सरल भाषा का प्रयोग अपेक्षित है। प्रेमचंद इस सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—

“इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्दों का गोरखधन्या रचकर लेखक पाठक को इस भ्रम में डाल दे कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लेते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आढम्बर देख कर भी हम खयाल करने लगते हैं कि कोई महत्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय, किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।”^१

शैली का सम्बन्ध बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। जर्मन आलोचक वॉफन के अनुसार शैली स्वयं लेखक का व्यक्त-स्वरूप है—*Style is the man himself*—औपन्यासिक शैली के सम्बन्ध में पूर्णता सत्य न भी हो, पर उपन्यासकार का व्यक्तित्व जगह-

१. कुछ विचार पृष्ठ ५१.

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

जगह उभर ही आता है। अतः आधुनिक उपन्यासों में लेखक के व्यक्तित्व एवं उसके दृष्टिकोण को बड़ा महत्व दिया जाता है।

(६) दृष्टिकोण

कोई भी रचना निष्प्रयोजन नहीं की जाती है।

“प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते।” लेखक का अपना एक निश्चित उद्देश्य अथवा दृष्टिकोण उपन्यास-कला का एक अविभाज्य अंग है। ग्रेबो के मत से—

“स्पष्टतः औपन्यासिक रचनातन्त्र में दृष्टिकोण मूल तत्व है। कोई दृष्टिकोण अपनाने पर ही कथानक, चरित्र-चित्रण, ध्वनि, वर्णन आदि का रूप एक सीमा तक निश्चित होता है।”^१

उपन्यासकार कभी भी तटस्थ नहीं रह सकता। उसका व्यक्तित्व उसकी कृति में स्पष्ट झलकता है। चाहे उसका समावेश जान-बूझ कर किया गया हो अथवा अनजान भाव से ही। उसके अपने विश्वास, मन्तव्य, दृष्टिकोण आदि स्वतः प्रतिबिम्बित हो उठते हैं। प्रेमचंद के शब्दों में—

“वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र

1. “The point of view, it is apparent, is the fundamental principle of technique in the novel structure. By the adoption of one or another point of view, plot, characterisation, tone, description are all to some degree determined.”

Carl H. Grabo—“The Technique of the Novel”,

Page 81.

आधुनिक साहित्य और कला

का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है, उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रँगी हुई नज़र आयेंगी। लहरी-आनन्दी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे होते हैं जिन्हें जगत-गति नहीं व्यापती। वे आसू-सी-तिखिस्मी चीज़ें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता झलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिन्दादिल न बना सकेगा।”^१

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उपन्यासकार के वैयक्तिक दृष्टिकोण की ही प्राथमिकता देते हैं। उपन्यासकार यदि ऊँचे वर्ग का व्यक्ति है तो उसे अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या करनी चाहिये। ऐसा करने से वे कृतियाँ मानव समुदाय के लिए रत्न सदृश होंगी। द्विवेदीजी अपने ‘आख्यायिका और उपन्यास—शीर्षक लेख में लिखते हैं।’

“उपन्यास इसलिए स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है। बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का एक अपना जबरदस्त मत है जिसकी सचाई के विषय में उसे पूरा विश्वास है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम रूप है।.....उपन्यासकार उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें वैयक्तिक दृष्टिकोण न हो, अपनी विशेष दृष्टि पर उसे पूरा विश्वास न हो। और सभी चीज़ें उसके लिए गौण हैं।”^२

इस सम्बन्ध में एच. डब्ल्यू. लेगेट का भी मत उद्धृत किया जा सकता है।

१. कुछ विचार—पृष्ठ ५५.

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ६६-७०.

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

“अपनी कहानी के प्रत्येक प्रकरण में लेखक केवल अपने व्यक्तित्व को ही व्यक्त नहीं करता, वरन् वह अपने पाठकों के सम्मुख अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। इसके भी आगे यह कहा जा सकता है कि वह अपने प्रति भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है। कुछ लेखक, उदाहरणार्थ, अपने आपको बड़ी गंभीरता से ग्रहण करते हैं।” १.

उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन को दो प्रकार से व्यक्त करता है—

(१) पात्रों तथा घटनाओं द्वारा, और

(२) स्वयं परिचय या आलोचना द्वारा।

इस आलोचना अथवा व्याख्या-कर्म में उपन्यासकार को बड़ा सचेत रहना पड़ता है। उपन्यासकार कोई आलोचक या व्याख्याकार नहीं है। वह उपदेशक और उपन्यासकार, दोनों साथ-साथ नहीं बन सकता। उसे तो प्रच्छन्न रूप से ही अपने विचारों, धारणाओं और विश्वासों को व्यक्त करना होगा।

इस स्थल पर उपन्यास और नीति तत्व (morality) के संबंधों की बात भी उठती है। उपन्यासों में नीति-तत्व का उपयोग अवश्य है; किन्तु वह प्रकट रूप में नहीं आना चाहिये। उपन्यास कोई

1. “Not only does an author express his personality in every paragraph of his story, but he also expresses his attitude to his readers. It is possible to go farther and say that an author also expresses his attitude to himself. Some authors, for example, take themselves very seriously indeed.”

‘The Idea in Fiction’ by H.W. Legett, Page 120.

आधुनिक साहित्य और कला

धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं होता । इसके साथ ही उपन्यासकार को नीति-तत्त्व की अवहेलना भी नहीं करनी चाहिये । प्रेमचंद ने साहित्य और नीति-शास्त्र के लक्ष्य की एकता प्रदर्शित करते हुए उनके स्वरूप की भिन्नता पर प्रकाश डाला है । वे लिखते हैं—

“नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है । केवल उपदेश की विधि में अंतर है । नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है ।”

नीति का संबंध जीवन से है और उपन्यास जीवन का चित्र होता है । प्रत्येक कला-कृति नैतिक मूल्यों से गुंथी रहनी चाहिये यदि वह किसी महती सामाजिक उपयोगिता के लिए अथवा मनुष्य की मानसिक या आत्मिक उन्नति के लिए रचा गया सद्-साहित्य है । हडसन उपन्यास में नीति-तत्त्व की प्रधानता घोषित करते हुए लिखता है—

“कला आवश्यक रूप से नीति से सम्बद्ध है । कला जीवन से जन्मती है, उसका जीवन से ही पोषण होता है, जीवन पर ही उसकी प्रतिक्रिया होती है । अतः वह जीवन के उत्तरदायित्वों की अवहेलना नहीं कर सकती । इसलिए, कलाकार के बारे में, चाहे उसका कोई भी क्षेत्र हो, यह कहना मूर्खतापूर्ण है कि वह नीति के दायरे से अलग है । निःसंदेह उपन्यासकार के बारे में भी हम ऐसा नहीं कह सकते । जब कि वह जीवन को लेकर चिन्ता है, तो उसे जीवन में जहाँ भी उत्पन्न हो, नैतिक सत्तों और मूल्यों पर भी विचार करना पड़ेगा । उसकी कृति की वास्तविक महत्ता बहुत कुछ उसकी नैतिक शक्ति, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि,

औपन्यासिक रचना-तन्त्र

समग्र आत्मिक चेतना और जीवन-दर्शन की प्रवृत्ति पर ही निर्भर करती है।१”

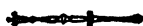
उपर्युक्त तत्वों का समावेश उपन्यास-रचना के अन्तर्गत होता है, किन्तु किसी उपन्यास में किसी तत्व की प्रधानता रहती है तो किसी में अन्य की। कोई उपन्यासकार कथानक व घटनाओं को ही मुख्य मानकर उपन्यास की रचना करता है तो कोई चरित्र को, तो कोई जीवन की किसी समस्या-विशेष को। उसकी प्रधानता का कोई भी तत्व हो सकता है। तत्वों की प्रधानता के आधार पर उपन्यास के प्रकारों का वर्गीकरण किया जाता है। यदि किसी उपन्यास में उपर्युक्त किसी तथ्य का

1. “Art is vitally connected with morality. Art grows out of life, it is fed by life; it reacts upon life. This being so, it cannot disregard its responsibilities of life. It is, therefore, to the last degree absurd to talk of the artist, whatever, his line of work, as if he stood without the field of Ethics. Certainly we cannot thus speak of the novelist. As he deals with life, he must deal with moral facts and issues everywhere involved in life; and it is upon the whole spirit and tendency of his philosophy, that the real greatness of his work very largely depends.”

—‘An Introduction to the Study of Literature by William Henry Hudson. Page 226.

आधुनिक साहित्य और कला

अभाव अथवा न्यूनता है तो उसे केवल इसी कारण हम हेय या साधारण कोटि का नहीं ठहरा सकते । हमें सर्वप्रथम उसके उद्देश्य की मूल-तह में पैठना पड़ेगा और उसी आधार पर उसकी कृति का यथार्थ मूल्यांकन करना होगा । आज के प्रयोग युग में आलोचना का प्राचीन शास्त्रीय ढंग एक प्रकार से उठ-सा गया है; फिर भी कुछ बातें ज्यों-की-त्यों विद्यमान हैं, भले ही शास्त्रीयता का आग्रह अब न रहा हो ।



उपन्यासों का वर्गीकरण

उपन्यास-साहित्य के विकसित होने के साथ-साथ उसमें अनेक रचनागत एवं विषयगत प्रकारों व भेदों का आ जाना स्वाभाविक है। जब भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले उपन्यास भिन्न-भिन्न (अथवा एक ही) उपन्यासकार द्वारा रचे जाने लगे तब यह आवश्यक हो गया कि उनका वर्गीकरण किया जाय, उनके प्रकार-भेद की व्याख्या की जाय। एतदर्थ उपन्यास वाङ्मय को कई प्रकारों में बाँटा गया है। यह विभाजन पूर्ण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि भविष्य में औपन्यासिक वृद्धि के साथ-साथ इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन संभाव्य है।

प्रश्न यह है कि इस वर्गीकरण का क्या आधार है ? औपन्यासिक विभेदों के दो मुख्य आधार हैं। प्रथम तो उपन्यास में किसी विशेष तत्व की प्रधानता का होना और दूसरा उद्दिष्ट विषय का विचार। इन दोनों प्रकार के उपन्यासों के उपभेद इस प्रकार किये जा सकते हैं :—

(१) तत्वों की प्रधानता के आधार पर :

(क) घटना-प्रधान

(ख) चरित्र-प्रधान

(ग) घटना-चरित्र-प्रधान

आधुनिक साहित्य और कला

(२) उद्दिष्ट-विषय के आधार पर :

(क) ऐतिहासिक

(ख) समस्यामूलक

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह नहीं समझना चाहिये कि उपन्यास के ये प्रकार एक दूसरे से नितान्त स्वतन्त्र हैं। इस वर्गीकरण का मूलाधार किसी विशेष तत्त्व अथवा विषय की प्रधानता ही है। वस्तुतः प्रत्येक उपन्यास में सभी नहीं तो अधिकतर तत्त्वों का समावेश होता ही है, किन्तु यह सब होते हुए भी उनकी अपनी-अपनी पृथक् सत्ता होती है, उनका अपना-अपना पृथक् संदेश होता है तथा उनके अपने-अपने पृथक् उद्देश्य होते हैं। अतः यह वर्गीकरण औपन्यासिक वाङ्मय के अन्तर्गत एक आवश्यक वस्तु बन गया है।

शैली के अनुसार भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है। उसके ये निम्नलिखित रूप हैं :—

(१) कथा के रूप में

(२) आत्म-कथा के रूप में

(३) चिट्ठी-पत्रों के रूप में

अधिकतर उपन्यास कथा के रूप में ही लिखे जाते हैं। आत्म-कथा और चिट्ठी-पत्रों के रूप में लिखे जाने वाले उपन्यास अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

घटना-प्रधान उपन्यास

घटना-प्रधान उपन्यास औपन्यासिक-विकास का प्रथम चरण है। प्रत्येक साहित्य के आरम्भिक-काल में घटना-प्रधान उपन्यासों का बाहुल्य मिलता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन घटना-वैचित्र्य-प्रधान उपन्यासों के संबंध में लिखा है :—

उपन्यासों का वर्गीकरण

“घटना-वैचित्र्य-प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी और वैज्ञानिक, आविष्कारों का चमत्कार दिखाने वाले । इनमें साहित्य का गुण अत्यंत अल्प होता है - केवल इतना ही होता है कि ये आश्चर्य और कुतूहल जगाते हैं ।”^१

इन उपन्यासों में आश्चर्यजनक घटनाओं का वर्णन मात्र रहता है । ऐसे उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का मनोरंजन करना एवं उसकी कुतूहल-वृत्ति को उत्तेजित करना होता है । उपन्यासकार अद्भुत एवं असाधारण व्यापारों का समावेश करके कथा को इतनी आकर्षक तथा रोचक बना देता है कि पाठक के कौतूहल की तीव्रता बढ़ती जाती है और वह उसके पढ़ने में लीन हो जाता है । ऐसे उपन्यासों में घटनाओं का घटाटोप-सा दृष्टिगोचर होता है । चमत्कारपूर्ण घटनाएँ असम्बद्ध-सी रहती हैं । उनका कोई क्रम नहीं होता । पूरे उपन्यास में केवल एक विस्मय का वातावरण व्याप्त रहता है । पात्र असाधारण व्यापार करते हैं । उनके लिए कोई वस्तु अथवा कार्य असम्भव नहीं होता । सभी घटनाएँ कल्पित होती हैं ।

यह सब होते हुए भी इन उपन्यासों का एक मनोवैज्ञानिक पहलू है । वह यह कि मनुष्य की वृत्तियों का इनमें रमना । पाठक सब-कुछ भूल कर ऐसे उपन्यासों में तल्लीन हो जाता है, क्योंकि वे उसकी कौतूहल-जन्य क्षुधा को तृप्ति प्रदान करते हैं । ऐसे उपन्यास की कथा तर्क-बुद्धि पर आधारित नहीं होती । रोमांचकारी घटनाओं का वर्णन-मात्र ही लेखक का मुख्य उद्देश्य होता है, जिससे वह अपने पाठकों का मनोरंजन कर सके । जिस साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना होता

आधुनिक साहित्य और कला

है वह उच्च-श्रेणी का कदापि नहीं कहला सकता। प्रेमचंद ने लिखा है :

“साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है।”^१

स्पष्ट यह है कि ऐसे उपन्यास विकसित बुद्धि के मनुष्य-समुदाय को रुचिकर नहीं हो सकते। दूसरे अब बढ़ते हुए जीवन-संघर्ष के कारण ऐसे उपन्यासों को पढ़ने के लिए मनुष्य के पास पर्याप्त अवकाश भी नहीं बचा। आज का मनुष्य संघर्षशील व एक जाग्रत-शक्ति है। वह केवल रोमांचकारी घटनाओं को स्वप्न की भाँति देखने का अभ्यासी नहीं है। उसकी बढ़ती हुई सामाजिकता व बौद्धिकता एवं जीवन की नाना समस्याओं ने उसे यथार्थवादी बना दिया है। उसका अब काल्पनिक कथाओं पर विश्वास नहीं रहा। अतः घटना-प्रधान उपन्यासों का दिन-पर-दिन हास होता जा रहा है जो मानव-विकास के साथ साथ अनिवार्य क्रम है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास

दूसरे प्रकार के उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हैं जैसा कि नाम से स्पष्ट है। इन उपन्यासों में उपन्यासकार का प्रधान उद्देश्य पात्रों का चरित्रांकन होता है। ऐसे उपन्यासों की सारी सफलता का श्रेय तथा उनके आकर्षण का केंद्र चरित्र-चित्रण ही होता है। पात्रों के जीवन की समस्त गतिविधि, उनके आचार-विचार, क्रिया-कलाप, पारस्परिक व्यवहारादि पर इतना ध्यान रखा जाता है कि उपन्यास के अन्य तत्व गौण हो जाते हैं, या यों कहा जाय कि शेष तत्व चरित्र-चित्रण की सहायता के निमित्त ही आते हैं। कथा तक विश्वङ्गल हो जाती है।

१. कुल-विचार—पृष्ठ ४१।

उपन्यासों का वर्गीकरण

पाठक ऐसे उपन्यासों को पढ़ते समय कथा के किसी निश्चित अन्त का अनुमान नहीं लगा सकता। उपन्यासकार के सम्मुख कोई पहले से ही गढ़ी हुई कथा नहीं रहती है। वह तो किसी पात्र विशेष के प्रकाशन के निमित्त ही लेखनी उठाता है और उसकी प्रतिभा तथा सृजनात्मक शक्ति उसी पात्र के चित्रण के चारों ओर ही केंद्रित रहती है। कथा का विकास पात्रों की गतिविधि के अनुसार ही होता है। घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ कोई पूर्व निर्मित नहीं होतीं, वरन् स्वयं पात्र इन घटनाओं को बनाते हैं। परिस्थितियों पर पात्र निर्भर नहीं रहते, उनका स्वतंत्र अस्तित्व होता है।

कुछ लोग चरित्र-प्रधान उपन्यासों के पात्रों को अपरिवर्तनशील रखते हैं। उपन्यास के आदि में वे जिन खूबियों और कमजोरियों को लेकर आते हैं उसी रूप में अंत में दिखायी पड़ते हैं। प्रेमचंद ऐसे उपन्यासों को अच्छा नहीं समझते। उनके मत से चरित्र में विकास होना ही चाहिये। वे पात्रों के (विशेषकर दुर्बल पात्रों के) चरित्र-परिवर्तन (convertibility) में विश्वास रखते थे। वे लिखते हैं :—

“अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय, उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए; क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।”^१

कुछ समीक्षकों के मतानुसार चरित्र संबंधी स्थिरता आवश्यक है। यह आवश्यकता विभिन्न पात्रों की गति-नीति, रहन-सहन और चरित्रों का अंतर बताने के निमित्त है। स्वयं पात्र को समझने के लिए भी यह

आधुनिक साहित्य और कला

जरूरी है। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव एक स्थल पर लिखते हैं :

“चरित्रों की मित्रता का भाव, अधिक-से अधिक प्रभाव के साथ उत्पन्न करने के लिए, पात्रों को गतिहीन बनाना ही पड़ता है ”^१

लेकिन पात्रों को यह गतिहीनता अंत तक नहीं दर्शानी चाहिये। प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर चरित्रों में विकास बताना भी उतना ही आवश्यक है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास उच्च-कोटि के उपन्यास समझे जाते हैं।

घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यास

तीसरे प्रकार के उपन्यास घटना-चरित्र-प्रधान होते हैं। इनमें घटनाओं और चरित्रों का अन्योन्याश्रित संबंध रहता है। वस्तु और चरित्र-चित्रण एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। पात्रों की गतिविधि कथा-वस्तु का निर्माण करती है और कथावस्तु की घटनाएँ पात्रों के क्रिया-कलाप।

इस प्रकार के उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यासों से नितान्त भिन्न होते हैं। ‘घटना चरित्र प्रधान’ के नामकरण से यह नहीं समझना चाहिये कि इनमें घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान के बीच का रास्ता चुना जाता है। घटना-प्रधान उपन्यासों की कथा अस्वाभाविक, असाधारण, अवैज्ञानिक तथा अलौकिक होती है, जब कि घटना-चरित्र प्रधान उपन्यासों में ऐसी बातों को कोई स्थान नहीं है। औपन्यासिक-रचनातंत्र के अन्तर्गत वस्तु और वस्तुविन्यास के तत्व के संबंध में जो लिख आये हैं उसका ऐसे उपन्यासों में सावधानी से पालन होना चाहिए। घटनाएँ स्वाभाविक एवं परिस्थितियों के अनुकूल घटनी अनिवार्य हैं।

घटना-प्रधान उपन्यासों की तरह, चरित्र प्रधान उपन्यास में और

उपन्यासों का वर्गीकरण

घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यास में विरोध नहीं है। अंतर केवल इतना है कि जहाँ चरित्र-प्रधान उपन्यासों में पात्रों के चरित्रांकन पर अधिक बल देने के कारण एकरसता उत्पन्न हो जाती है, वहाँ घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में नाना घटनाओं के समावेश से कथा में सरसता तो आती ही है पात्रों के चरित्र भी निखरते हैं।

इस प्रकार के उपन्यास भी उच्छ्रोत्र के माने गये हैं। इन्हें 'नाटकीय-उपन्यास' भी कहा जाता है।

उपर्युक्त प्रकारों का वर्गीकरण तत्त्वों की प्रधानता के आधार पर किया गया है।

ऐतिहासिक-उपन्यास

इष्ट विषय के विचार से प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास आते हैं। ऐतिहासिक-उपन्यास किसी देश के इतिहास से सम्बद्ध रहते हैं। देश की प्राचीन संस्कृति व उसके गौरव का चित्रण ऐसे उपन्यासों में मिलता है। ऐतिहासिक उपन्यास अतीत को हमारे सम्मुख रखते हैं।

इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे बड़ा अंतर उनके रचनातन्त्र एवं परिस्थितियों के रखने में है। इतिहास देश में घटित होने वाली राजनीतिक घटनाओं का एक संकलन होता है जिसमें इतिहासकार की उन घटनाओं पर टिप्पणियाँ (Remarks) भी रहती हैं, पर ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास की केवल सूखी घटनाओं का चित्रण नहीं होता; उसमें जनश्रुतियों के आधार पर घटनाओं के बनने-बिगड़ने का मार्मिक चित्रण होता है, अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो मानवीय होने पर भी प्रमाण न मिलने के कारण इतिहासकार छोड़ देता है। उनका ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि में इतिहास की प्रमाणित घटनाओं से कोई कम महत्व नहीं होता। ऐतिहासिक उपन्यासकार को

आधुनिक साहित्य और कला

निश्वासी बनना पड़ता है। कभी-कभी ऐतिहासिक पुरुषों के साथ इतिहासकार अन्याय भी कर जाता है जिसका परिमार्जन उपन्यासकार की उदार-दृष्टि से ही संभव होता है। अप्रसिद्ध पात्रों का समावेश हमें इतिहास में नहीं मिलेगा। पर वे अप्रसिद्ध और साधारण पात्र किस प्रकार परिस्थितियों के निर्माण में योग देते हैं, उसका चित्रण हमें ऐसे उपन्यासों में ही मिलता है। अस्तु, अभिप्राय यह कि ऐतिहासिक उपन्यास कोई इतिहास की प्रतिलिपि नहीं होते। उनका स्वरूप उससे कहीं मानवीय, उसकी दृष्टि उससे कहीं उदार एवं उसके परिणाम उससे कहीं अधिक संगत होते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को निम्नलिखित तत्वों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है :

(१) देश-काल, और

(२) कल्पना।

देशकाल उपन्यास रचना का मुख्य अंग है। पर इसका महत्व ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे अधिक है। बिना इसकी पूर्णता के उपन्यास असफल ही नहीं होता, वरन् कभी-कभी तो हास्यास्पद तक बन जाता है। उसकी परख का प्रधान मापदण्ड देश-काल है। काल-विरुद्ध व देश-विरुद्ध बातों के समावेश से ऐसे उपन्यास किसी काम के नहीं रहते। दिल्ली का वर्णन करते समय समुद्र के किनारे का दृश्य उपस्थित करना या अर्जुन के हाथ में रायफल बताना ऐसी ही बातें हैं। बारोक-से-बारीक बात को उसे ध्यान में रखना पड़ता है। अतः उसके लिए उस काल की सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, नैतिक तथा मनोगत स्थिति का अच्छा अध्ययन अनिवार्य है। पुरातत्त्व का ज्ञाता ऐसे उपन्यासों में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह

उपन्यासों का वर्गीकरण

जिस प्रदेश का चित्रण कर रहा है उस प्रदेश का भ्रमण करे, वहाँ का पर्यवेक्षण करे, वहाँ की जनता से निकट का सम्पर्क स्थापित करके जातिगत और स्थानगत तथ्यों को एकत्र करे। ऐसा करने से उसके उपन्यास में सजीवता आ जायगी। मात्र इतिहास के पोथे पढ़ कर व कल्पना के सहारे इतनी सजीवता पैदा नहीं की जा सकती। घुमकड़ उपन्यासकार ऐसे उपन्यासों को बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं।

जहाँ तक कल्पना का संबंध है ऐतिहासिक उपन्यासकार की कुछ सीमाएँ हैं। उसे अपनी कल्पना-शक्ति का वहाँ तक ही उपयोग करना होगा, जहाँ तक ऐतिहासिक-सत्य का निर्वाह होता रहे ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा उपन्यासकार नहीं कर सकता। यह उसके लिए एक बहुत बड़ी बंदिश है। कल्पना और इतिहास का उसे सामंजस्य करना पड़ेगा। अन्य उपन्यास-लेखकों की तरह ऐतिहासिक उपन्यासकार कथा-वस्तु के चुनाव में स्वतंत्र नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के दो भेद किये गये हैं—

(१) ख्यातवृत्त और

(२) मिश्र

ख्यातवृत्त ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वृत्त को ग्रहण किया जाता है। पुरातत्व के आधार पर विशुद्ध ऐतिहासिक कथा का समावेश इनमें होता है। ऐसे उपन्यासों को ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास के नाम से भी पुकारा जाता है। मिश्र ऐतिहासिक उपन्यासों में ख्यातवृत्त का ग्रहण बहुत कम होता है।

समस्यामूलक-उपन्यास

उपन्यास का अत्याधुनिक स्वरूप समस्यामूलक है। समस्यामूलक उपन्यास जैसा कि शब्दों से ध्वनित होता है, किसी समस्या विशेष को

आधुनिक साहित्य और कला

लेकर चलते हैं। समस्या सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, नैतिक, पारलौकिक आदि किसी भी प्रकार की हो सकती है। सामाजिक उपन्यास और सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास में वस्तु-विन्यास संबंधी भेद है; ठीक इसी प्रकार राजनीतिक-उपन्यास, पारिवारिक उपन्यास आदि के संबंध में है। समस्यामूलक उपन्यास वस्तु को प्रधानता नहीं देते, वे कहीं-कहीं तो औपन्यासिक रचनातंत्र तक की उपेक्षा कर जाते हैं, पर समस्या के महत्व और उसके रखने के प्रभावशाली ढंग के कारण इस उपेक्षा से सामाजिकों की कृति से भरचि नहीं होती। समस्यामूलक उपन्यास औपन्यासिक-तत्त्वों में सबसे अधिक महत्व अपने उपन्यास की समस्या को ही देते हैं। शेष तत्त्व उनमें मिलेंगे, पर अन्य औपन्यासिक-प्रकारों से भिन्न। उनके चरित्रांकन, कथा-विकासादि के पृथक् मापदण्ड हैं।

समस्यामूलक-उपन्यास के दो भेद पाये जाते हैं :—

(१) जिसमें केवल एक समस्या हो, और (२) जिसमें एक प्रधान-समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी गुँथी हुई हों, पर उनका स्थान गौण हो।

वास्तव में देखा जाय तो केवल एक समस्या वाले उपन्यास ही समस्यामूलक नाम से पुकारे जाने के अधिकारी हैं। दूसरे प्रकार के उपन्यास समस्या-प्रधान होते हुए भी समस्यामूलक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनका रचनातंत्र अन्य औपन्यासिक-स्वरूपों से इतना भिन्न नहीं होता। समस्यामूलक उपन्यासों की श्रेणी में उन्हें इस कारण गिना जा सकता है कि उपन्यासकार का ध्यान उनमें भी समस्याओं पर ही केन्द्रित रहता है। स्वरूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी उद्देश्य में एकता अवश्य मिलती है। इसके अतिरिक्त वे एक-दूसरे के अत्यधिक निकट भी हैं।

उपन्यासों का वर्गीकरण

विरोधी होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता । अतः समस्यामूलक उपन्यास को विस्तृत परिभाषा के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपन्यास सम्मिलित किए जा सकते हैं ।

समस्यामूलक उपन्यासों का प्रचार दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है । वे प्रत्येक देश में लोकप्रिय हो रहे हैं । जीवन की नाना समस्याओं का उद्घाटन तथा उनका हल, यद्यपि हल सदैव अपेक्षित नहीं होता, आज के उपन्यासकार का प्रधान कार्य है । उपन्यासकार एक सामाजिक प्राणी होता है, वह अपने समय की समस्याओं से विमुख नहीं रह सकता । वास्तविक लेखक तो इन समस्याओं से तटस्थ भी नहीं रह सकते । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

“लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का माग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यास का काम है ।”^१

प्रेमचंद साहित्य का उद्देश्य ही समस्याओं पर विचार एवं उनका हल उपस्थित करना घोषित करते हैं—

“अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है । अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनता ; किंतु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है ।”^२

१—हिन्दी-साहित्य का इतिहास-पृष्ठ ५३५

२—कुछ विचार-पृष्ठ ८

आधुनिक साहित्य और कला

अपने युग की समस्याओं से लेखक को कभी भी विमुख नहीं रहना चाहिए । राल्फ फॉक्स के शब्दों में—

“क्या उपन्यासकार दुनिया की समस्याओं की, जिनमें वह रहता है, उपेक्षा कर सकता है ? क्या वह युद्ध के लिए होने वाले शोर के प्रति अपने कान बंद कर सकता है ; अपने देश की दशा के प्रति आँखें बंद रख सकता है ? क्या वह अपने चारों ओरके भयानक वातावरण देख कर अपना मुँह बंद रख सकता है जब कि राजकीय मान के नाम पर, व्यक्तिगत लोलुपता को ज्यों-का-त्यों कायम रखने के लिए जनता का जीना दूभर कर दिया गया है ?

दिन-पर-दिन उपन्यासकार यह अनुभव करने लगे हैं कि आँख, कान और स्वर वास्तव में चेतना के अंग हैं और मानवीय दुनिया को शक्ति प्रदान करने के लिए उत्तरदायी हैं, वे किसी आध्यात्मिक-विश्व के निष्क्रिय दास-मात्र नहीं हैं जैसा की कला के क्षेत्र में परम्परागत मान्यता रही है ।”^१

1. “Can a novelist remain indifferent to the problems of the world in which he lives ? Can he shut his ears to the clamour of preparing war, his eyes to the state of his country ? Can he keep his mouth closed when he sees horror around him and life being denied daily in the name of a state pledged to maintain the sanctity of private greed ?

More and more novelists are beginning to feel that eyes, ears, and voice, are in fact, organ-

उपन्यासों का वर्गीकरण

यही उपन्यासकार का युग-धर्म है। उसे अपने समय की समस्याओं में काफी गहरे डूब जाना होता है। समस्यामूलक-उपन्यासकार को कला का उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण करना पड़ता है। उसका उद्देश्य सामाजिक है। वैयक्तिक समस्याओं के उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। वे व्यक्ति मात्र (individual) के मन का विश्लेषण करते हैं, किसी सामूहिक जन-जीवन के प्रश्नों को, समस्याओं को अथवा अ-वश्यकताओं को सामने नहीं रखते। समस्या-मूलक उपन्यास हमारे जटिल और विभिन्न रूपात्मक संसार का दर्पण है।

औपन्यासिक तत्व समस्यामूलक उपन्यासों में सीमित और निर्दिष्ट दृष्टिकोण लेकर आते हैं। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल आदि सभी तत्व अपने स्वतंत्र रूप में इनमें दृष्टिगोचर होंगे।

जहाँ तक वस्तु का संबंध है समस्यामूलक उपन्यास में उसके विन्यास का विशेष महत्व है। समस्या को आधार मानकर उपन्यासकार वस्तु की रचना करता है। जीवन की घटनाओं का वह इस तरह संकलन करता है कि समस्या पाठकों के सामने धीरे-धीरे आती है और आगे चल कर पूरे उपन्यास पर छा जाती है। इस क्रिया में सामाजिक व राजनीतिक परिपार्श्व की बड़ी अपेक्षा रहती है। सामाजिक व राजनीतिक वातावरण समस्यामूलक उपन्यासों की रंगभूमि है। इसी

of senses, responsible to the stimulus of the human world, and not mere passive servants of a spiritual world supposed traditionally to be the domain of art."

The Novel and the people—Ralph Fox, Page 7

आधुनिक साहित्य और कला

वातावरण पर समस्या की गंभीरता निर्भर करती है। समस्या की जटिलता भी सामाजिक व राजनीतिक सीमाओं में हो आवश्यक रहती है। तथा समस्या का हल भी इन्हीं सीमाओं के परिवर्तन या विकास पर निर्भर करता है। समस्यामूलक उपन्यासकार का कर्म ऐतिहासिक उपन्यासकार से भी अधिक बंधा हुआ है। जिस प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथा को मनमाना रूप नहीं दे सकता उसी प्रकार समस्यामूलक उपन्यासकार भी अपने प्रतिपाद्य समाज की स्थिति का वर्णन करते समय उसे अपनी इच्छानुकूल बदल नहीं सकता। जिस प्रकार की समस्या अवस्थित हो उसको ज्यों-का-त्यों उसे ग्रहण करना पड़ता है, फिर समाजगत बाधाओं, मर्यादाओं तथा सीमाओं का परिचय कराता हुआ वह समयोचित और देशोचित हल निकालेगा। प्रायः समस्याओं का उत्पन्न होना सामाजिक, परिवारिक या राजनीतिक दशाओं पर निर्भर करता है। अतः समस्यामूलक उपन्यासकार को अपने समय के समस्त प्रकार के वातावरण की सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिये। समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, नीति-शास्त्र और इतिहास का विस्तृत वैज्ञानिक ज्ञान उसको होना चाहिये। हडसन लिखते हैं :—

“उपन्यासकार जीवन के जो क्षेत्र अपने लिखने के लिये चुने, उसे उन्हें पूर्ण समझ के पश्चात् ही लिखना चाहिये जो वस्तु-विषय के नैकट्य से ही प्राप्त हो सकती है।”.....¹

1. “Whatever aspects of life the novelist may choose to write about, he should write them with the grasp and thoroughness which can be secured only by familiarity with his materials.”

उपन्यासों का वर्गीकरण

उपर्युक्त तथ्य समस्यामूलक उपन्यासों के लिये विशेष महत्त्व का है ।

समस्यामूलक-उपन्यास में कथा का विकास विशिष्ट दृष्टि कोण को लेकर होता है । उपन्यासकार का यहाँ उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना नहीं होता । उसे तो यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर अपनी कृति का निर्माण करना होता है । तो जिस समस्या को लेकर वह चलता है और जो उसका उस समस्या को देखने का दृष्टिकोण होता है उसी की पूर्ति-भावना को सामने रखकर कथा-सामग्री एकत्र करता है । इस कथा-सामग्री में कोई भी अनावश्यक घटना का समावेश नहीं होना चाहिये । अन्य घटनाओं के समावेश से प्रायः अन्य उपन्यासों की रोचकता बढ़ जाती है, पर समस्यामूलक-उपन्यासों में ऐसा करने से उसके प्रभाव की तोत्रता पर व्याघात होता है । समस्यामूलक उपन्यास-कार अपने पाठक का ध्यान एकक्षण भी प्रतिपाद्य समस्या से हटाना नहीं चाहता । उसका मार्ग प्रशस्त राजपथ नहीं है; उसे सँकरी पगडंडी पकड़नी होती है और समस्याओं के बीहड़ जंगलों के काफी गहरे पहुँचना होता है । उस पगडंडी के आस-पास या मध्य में जो कुछ है वह उसका है; उसके बाहर के क्षेत्र से कोई सरोकार नहीं ।

समस्यामूलक-उपन्यास कोई निबंध नहीं होता, वह कलात्मक रचना होती है । इसलिए उसके समस्या संबंधी विचारों, प्रश्नों व जिज्ञासाओं के लिए अत्यधिक तीव्र व प्रभावशाली घटना की खोज जरूरी है । घटना साधारण होने पर समस्या उभर नहीं सकती । एक ही समस्या को लेकर नाना उपन्यासों की रचना की जा सकती है, पर उनकी सफलता की दृष्टि से श्रेष्ठता बहुत-कुछ घटना पर निर्भर करती है । विषय

An Introduction to the study of literature—
William Henry Hudson. Page 175

आधुनिक साहित्य और कला

वस्तु के चुनाव में समस्यामूलक उपन्यासकार को बड़ा सजग रहना होता है, बिना इसके उसके ऊँचे विचार और सूक्ष्म-दृष्टि का पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सकता ।

कथा-वस्तु की स्वाभाविकता अनिवार्य है । उसके विकास-पथ का ग्राफ़ वक्र होता है । प्रारम्भ का अंश विस्तृत नहीं होता । मध्य-भाग में समस्या का उभार होता है और चरमोत्कर्ष कई आते हैं, तथा इस द्वन्द की तीव्रता बढ़ती जाती है । और फिर प्रायः सभी पहलुओं के प्रकाशन के बाद उसका अंत हो जाता है । समस्यामूलक उपन्यासों का अन्त प्रायः आकस्मिक होता है । समस्या को रखता है, उसका विश्लेषण करता है, उसके कारणों पर प्रकाश डालता है; पर हल नहीं व्यक्त करता; सुझा भले ही दे । वह पाठकों को सोचने के लिये बाध्य करता है और उनकी विचार-शक्ति को बढ़ाता है । कुछ समस्यामूलक-उपन्यासकार हल भी व्यक्त करते हैं और उपन्यास का अन्त धीरे-धीरे करते एक आदर्श समाज के सामने उपस्थित करते हैं । समस्याओं के हल का निर्देश यदि उपन्यासकार करता है तो वह उपन्यासकार के साथ-साथ नेता का काम करता है । प्रेमचन्द साहित्यकार के लक्ष्य के संबंध में लिखते हैं ।

“वह देशभक्ति और राजनीति के पोछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है ।”^१

वह समाज को बदलने के साथ-साथ उसके नव-निर्माण में भी योग देता है; पर, यहाँ उसके हल के व्यवहारिक और वैज्ञानिक होने का प्रश्न आता है; और यहीं पर उपन्यासकार के व्यक्तिगत मन्तव्यों, धारणाओं, विश्वासों आदि का परिचय मिलता है ।

उपन्यासों का वर्गीकरण

प्रत्येक उपन्यासकार का अपना उद्देश्य होता है। प्रायः यही देखा जाता है कि उपन्यासकार समस्याओं को अपने उद्देश्य की रोशनी में ही देखते हैं। उसका जीवन-दर्शन समस्याओं को देखने व हल करने में सदैव आगे रहता है। लेखक का व्यक्तित्व ऐसे उपन्यासों में विशेष रूप से लक्षित होता है। वह सभी चीजों को अपने दृष्टिकोण से देखता है। पर उसका दृष्टिकोण नितान्त वैयक्तिक नहीं होना चाहिए। यदि उसने समस्याओं के प्रति अपना दृष्टिकोण सामाजिक-चेतना व आवश्यकताओं को सामने रखकर बनाया है तो उसकी कृति समाज के लिए स्वास्थ्यकर तथा उपयोगी सिद्ध होगी।

पात्रों के चरित्र-चित्रण का स्थान समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं के साथ ही रहता है। पात्र इतने स्वतन्त्र नहीं हो सकते जितने चरित्र-प्रधान अथवा घटना-चरित्र-प्रधान उपन्यासों में। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में लेखक का ध्यान पात्रों पर केन्द्रित रहता है जबकि समस्यामूलक उपन्यासों में समस्याओं पर। कभी-कभी यह ध्यान इतना अधिक दे दिया जाता है कि पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व तक खतरे में पड़ जाता है, वे उपन्यासकार की इच्छा पर नाचने लगते हैं—कठपुतली की तरह। यह एक दोष अवश्य है और प्रत्येक उपन्यासकार को इससे बचना चाहिए। समस्यामूलक उपन्यासकार को भी इस अतिरेक से बचना जरूरी है, क्योंकि उससे उसके उद्देश्य के कमजोर पड़ने की संभावना रहती है।

समस्यामूलक उपन्यास में संवाद केवल कथा के विकास अथवा चरित्रांकन के दृष्टिकोण से ही नहीं रखे जाते वरन् समस्याओं के उद्घाटन करने, उनके कारण आदि पर प्रकाश डालने के निमित्त होते हैं। लेखक उनके द्वारा अपने विचारों को भली-भाँति प्रकट करता है। प्रायः संवाद लम्बे हो जाते हैं। विचार-प्रधान तो वे होते ही हैं। पात्रों के

आधुनिक साहित्य और कला

मुख्य से लेखक अपने मन्तव्यों को सामने रखता चलता है। शेष उपन्यासों के समान उसका मूल उद्देश्य यह नहीं होता कि संवाद छोटे हों, कथा को आगे बढ़ाएँ, पात्रों की मनोवृत्तियों, स्वभाव आदि पर प्रकाश डालें आदि। अतः समस्यामूलक उपन्यासों में यह स्वाभाविक है कि संवाद कहीं लेखक व भाषण का रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि उपन्यासकार का प्रयोजन ही वही होता है। कुछ आलोचक ऐसे संवाद वाले उपन्यासों पर प्रचार का आक्षेप लगाते हैं। प्रचार के अच्छे या बुरे होने के सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। प्रचार के महत्व को अलग रख भी दें तो भी उनका आक्षेप संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समस्यामूलक उपन्यासकार का उद्देश्य उपयोगिता से संबन्ध रखता है। वह जानबूझकर उपन्यासों को प्रचार का माध्यम बनाता है यदि यह दोष माना भी जाय तो भी उपन्यासकार की चेतनावस्था का जनक है, अतः वह तो अन्ततोगत्वा समस्यामूलक उपन्यास की टेकिनक का एक तत्व ही बन जाता है।

अन्त में समस्यामूलक-उपन्यास और कला का क्या संबंध है?— प्रश्न शेष रहता है। कोई भी रचना बिना कलात्मक हुए प्रभावशाली नहीं हो सकती। कला की ओर से समस्यामूलक उपन्यासकार भी उदासीन नहीं रह सकता। कला शून्य रचनाओं की अवधि क्षणिक होती है। वे पाठक को प्रभावित भी नहीं कर सकतीं। लेकिन कलात्मक-उपन्यासों (Art-Novels, और समस्यामूलक-उपन्यासों (Problem) में भेद है। कलात्मक-उपन्यासों को कला के दृष्टिकोण से ही परखना चाहिए, जबकि समस्यामूलक उपन्यासों के विश्लेषण का आधार सामाजिक स्थिति है। समस्यामूलक उपन्यासों में कला रहती है, लेकिन उनका मूल्यांकन कला की दृष्टि से करना अवैज्ञानिक है। समस्यामूलक उपन्यासकार यदि कहीं-कहीं कला की सीमाओं का उल्लंघन

उपन्यासों का वर्गीकरण

भी कर जाए तो वह अखरता नहीं है, क्योंकि ऐसे उपन्यास अपने उद्देश्य में इतने सुदृढ़ होते हैं कि उनका सामूहिक प्रभाव कलाभाव को पूर्ति कर देता है। वे हमें सोचने के लिए विवश करते हैं। उनका प्रभाव उपन्यास पढ़ लेने के बाद मिटता नहीं है। वे हमारी चेतना और सृजनात्मक-शक्ति को क्रियाशील करते हैं। समाज अपनी समस्याओं से परिचित तो रहता ही है, बड़े-बड़े राजनीतिक नेता अपने भाषणों से उसे उन समस्याओं से संघर्ष करने के लिये उत्तेजित भी करते हैं, पर इन चीजों का उस पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना साहित्य के द्वारा। उपन्यासकार कथा के सहारे समस्याओं के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त करते हैं उनका सीधा असर समाज पर पड़ता है। स्पष्ट है इस क्रिया में कला का योग है, जिसे हम समस्यामूलक उपन्यास को कला कहते हैं, पर यहाँ कला, प्रधान-पद पर आरुढ़ नहीं की जाती उसका तो सहारा मात्र लिया जाता है। इस सहारे से उपन्यासकार के गहरे-से-गहरे विचार टिके रहते हैं और पाठक को अरुचि नहीं होती। वह उसकी टिप्पणियों की ध्यान से पढ़ता है। ऐसे ही उपन्यास समाज को बदलने की क्षमता रखते हैं।
